विवेकशिखा

ी रामकृष्ण-विवेकानन्द भाव-धारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

—६ । जनवरी—१९८७ । अंक—१

ामी
कानन्द
अंक

मूल्य : २.५०

रामकृष्ण निलयम्, जयप्रकाश नगर, छपरा (बिहार)

विवेक शिखा के आजीवन सदस्य

११. श्री पी० राम	—	पटना (बिहार)
१२. श्री अशोक कुमार टाँटिया	—	कलकत्ता (प० बंगाल)
१३. श्री धर्म पाल	—	नई दिल्ली (नई दिल्ली)
१४. श्री रमेश चन्द्र कपूर	—	इलाहाबाद (उत्तर प्रदेश)
१५. श्री पालक वसु	—	इलाहाबाद (उत्तर प्रदेश)
१६. प्राचार्य, संतगजानन महाराज कालेज ऑफ इंजीनियरिंग	—	शेगाँव (महाराष्ट्र)
१७. श्री प्रभाकर सिंह	—	इलाहाबाद
१८. श्रीमती मंजु रस्तोगी	—	दुमका (बिहार)
१९. श्री कमल कुमार गुहा	—	कलकत्ता (पश्चिम बंगाल)
२०. श्री विवेक भुजंग राव कुलकर्णी	—	नागपुर (महाराष्ट्र)
२१. श्रीराम विलास चौधरी	—	सुपौल, दरभंगा (बिहार)
२२. डा० रमेश चन्द्र प्रसाद	—	देवघर (बिहार)
२३. श्री मातादीन मिश्र	—	सारण (बिहार)
२४. एम० एम० नावालगी	—	कादरा (कर्नाटक)
२५. श्री हेमराज साहू	—	नरसिंहपुर (म० प्र०)
२६. डा० प्रकाश चन्द्र मिश्र	—	पटना (बिहार)
२७. श्री विनोद व्रजभूषण अग्रवाल	—	नागपुर (महाराष्ट्र)
२८. श्री केशरदेव भालोटिया	—	जरमुण्डी (बिहार)
२९. श्री धर्मवीर शर्मा	—	खण्डवाया (उत्तर प्रदेश)
३०. श्री शिवशंकर सुखदेव पाटील	—	शेगाँव (महाराष्ट्र)
३१. श्री गजानन महाराज संस्थान	—	शेगाँव (महाराष्ट्र)
३२. श्री दया शंकर तिवारी	—	लाल बाजार, सीवान (बिहार)
३३. चुक चुक	—	बेलगाँव
३४. डॉ० श्रीमती वीणाकर्ण	—	पटना (बिहार)
३५. डॉ० सम्पत	—	भदोल (महाराष्ट्र)
३६. कुमारी अलना सकलेचा	—	बम्बई

इस अंक में

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत

उठो जागो और लक्ष्य प्राप्त किए बिना विश्राम मत लो।

विवेक शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष—६ जनवरी—१९८७ अंक—१

इष्टदेव का हृदय-कमल में रूप अनूप दिखा। निजानन्द में रखती अविचल विमल 'विवेक शिखा'॥

संपादक

डॉ० केदारनाथ लाभ

सहायक संपादक

शिशिर कुमार मल्लिक

श्याम किशोर

संपादकीय कार्यालय :

रामकृष्ण निलयम्

जयप्रकाश नगर,

छपरा—८४१३०१

(बिहार)

सहयोग राशि

आजीवन सदस्य	२५० रु०
वार्षिक	२० रु०
रजिस्टर्ड डाक से	२८ रु०
एक प्रति	२ रु० ५० पैसे

रचनाएँ एवं सहयोग - राशि संपादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजने की कृपा करें :

श्रीरामकृष्ण ने कहा है

(१)

एक आदमी लकड़ी लाकर आग जलाता है तो दस आदमी उसकी गरमी का लाभ उठाते हैं। इसी प्रकार, कठोर साधना, उग्र तपस्या कर जब कोई भगवान् को प्राप्त कर लेता है तो उसके सम्पर्क में आकर, उसके उपदेशानुसार चलकर बहुत से लोग ईश्वर की ओर अग्रसर होने लगते हैं।

(२)

जीवन कैसे बिताना चाहिए? जैसे चूल्हे में अंगार को बीच-बीच में फूँककर उकसा देना पड़ता है ताकि वह बुझ न पाए, वैसे ही बीच-बीच में साधु संग करते हुए मन को सचेत, सतेज बनाए रखना चाहिए।

(३)

जैसे कच्चे बाँस को आसानी से झुकाया जा सकता है पर पक्का बाँस जबरदस्ती झुकाए जाने पर टूट जाता है, वैसे ही युवकों का मन सरलता से ईश्वर की ओर ले जाया जा सकता है, परन्तु बड़े-बूढ़ों के मन को उस ओर झुकाने की कोशिश करने पर वे भाग खड़े होते हैं।

(४)

रेशम का कीड़ा जिस प्रकार अपने ही कोश में आप फँस जाता है, उसी प्रकार संसारी जीव भी अपनी ही वासनाओं के जाल में आप अटक जाता है। फिर जैसे उस कीड़े से तितली बन जाने पर वह कोश को चीरकर बाहर उड़ जाती है, वैसे ही विवेक-वैराग्यरूपी पंख आ जाने पर संसार में आबद्ध जीव भी उसमें से उड़ निकलता है।

(५)

जिसे तीव्र व्याकुलता हो उसे शीघ्र ही भगवान् के दर्शन होते हैं।

विवेकानन्द

—डॉ० मिथिलेश कुमारी मिश्र
बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना-४

वह कौन तेज है जिसका
व्यापक-विस्तार अलौकिक।
अध्यात्म रूप में कैसे
वह बना अचानक भौतिक॥
सदसत् के परे रहा जो
किसलिए जगत् में आया।
वह अनासक्त होकर भी
कण-कण में दिखा समाया॥
यदि वही एक प्रभुसत्ता
कैसे अनेक बन जाती?
किस लिए इसी में संसृति
अन्ततः सदेह समाती?॥
सहसा नरेन्द्र के मन में
ये प्रश्न उभर कर आये।
बढ़ रही विकट जिज्ञासा
उत्तर न कहीं दिख पाये॥
पूछता युवक—'वह क्या है
क्या कहीं किसी ने देखा।'
थे मौन, प्रश्न सुन ज्ञानी
कह सके न कुछ भी लेखा॥
पर 'परमहंस' हँस बोले—
तुम हो नरेन्द्र! नारायण।
है कहाँ ढूँढते उसको
करते जिसका पारायण॥
तुम स्वयं उसे पहचानो
वह पराशक्ति ही तुम हो।
सर्जन-पालन-लय-कारण
वह पुनः सृष्टि भी तुम हो॥
पाकर संकेत अचानक
अन्तर में बोध समाया।

अभ्यास योग-साधन में
उसने था ध्यान लगाया॥
लग गयी समाधि अलौकिक
चित् में चेतनता आयी।
वृत्तियाँ सुप्त बन बैठीं
इन्द्रियाँ न पड़ीं दिखायी॥
आलोक ज्ञान का उतरा
बन गया 'विवेक' विलक्षण।
गुरु-कृपा प्राप्त होते ही
अणु-अणु दिख पड़ा विचक्षण॥
उपनिषद् वाक्य मेधा में
साकार रूप बन उतरे।
वेदान्त ज्ञान अन्तर में
उत्तम प्रकाश से उभरे॥
झुक गया सहज अमरीका
योरप दिखता नत मस्तक।
'स्वामीजी' की वाणी सुन
चौंके भौतिकवादी तक॥
वह ब्रह्म-पुरुष धरती पर
पूरब-पश्चिम तक धाया।
जो भटक रहे थे भ्रमवश
उनको सद्ज्ञान बताया॥
भगिनी निवेदिता ने भी
भारत में वास बनाया।
सन्देश मिला 'स्वामी' से
जन-जन तक था पहुँचाया॥
गूँजती आज भी वाणी।
वह शंखनाद था कैसा?
जिसने स्वदेश की गुरुता
जग में भर दी थी सहसा॥

●

सम्पादकीय सम्बोधन

छुओ, उस आग को छुओ

मेरे आत्मस्वरूप मित्रो,

नया वर्ष आप सबके लिए मंगलमय हो !

विवेक शिखा अपने छठे वर्ष में इस अंक के साथ प्रवेश कर रही है। भगवान श्रीरामकृष्ण, जगज्जननी श्री माँ सारदा तथा त्रिकालदर्शी ऋषि स्वामी विवेकानन्द की अक्षय-अशेष कृपा की अमृतवारि-धारा अबाध अनवरत रूप से बरसती रही है इस पर। मैंने पल-पल इसका अनुभव किया है। इस अनुभव को जिया है, भोगा है। उस अमृतवारि धारा में भींगता रहा हूँ। उनके चन्दनी-चरणों पर मैं प्रणत हूँ। उनकी वाणी उनके द्वारा ही निस्सृत होकर विवेक शिखा के माध्यम से प्रचारित प्रसारित होती रही है—समग्र भारत में। भविष्य में भी उनकी वाणी विवेक शिखा के माध्यम से फैलती रहे—यह निवेदन है उनके ही श्रीचरणों में।

ठाकुर, माँ और स्वामीजी की वाणी को सुनने, समझने और तदनुसार जीवन-यापन करने की आज जितनी जरूरत है, उतनी शायद कभी नहीं थी। क्यों ? हमारा सारा देश एक विचित्र भयावह दौर से गुजर रहा है आज। भौतिकवाद, स्वार्थवाद, आतंकवाद, हिंसावाद, भाषावाद, घृणा-द्वेषवाद जैसे हमारे जीवन मूल्य हो गये हैं। 'हमारी माँगें पूरी हों, चाहे-चाहे जो मजबूरी हों'—हमारा राष्ट्रीय नारा हो गया है। "पैसा (Pay), प्रत्याशा (Prospect) और प्रोन्नति (Promotion)—ये तीन 'प' ही हमारे जीवन के आदर्श हो गये हैं। कितने सिकुड़ गये हैं हम ! कितने छोटे, कितने बौने हो गये हैं हम ! यही स्वार्थपरता, मात्र अपना—नितान्त निजी संवर्धन की वृति आज हमें महामृत्यु, महापतन की ओर ढकेल रही है। जहाँ हमारी प्रेम की भुजाएँ लम्बी होनी चाहिए थीं वहाँ वे इतनी छोटी हो गयी हैं कि अपनी छाती के अलावे वे और किसी को बाँध ही नहीं पातीं। यह एक बड़ा दुर्भाग्य है हमारा।

अपने एक प्रिय शिष्य फ्रैन्सिस लेगेट को ६ जुलाई, १८८६ को स्वामीजी ने लंदन से एक बड़ा प्रेरक पत्र लिखा था : "बीस वर्ष की अवस्था में मैं अत्यन्त असहिष्णु और कट्टर था। कलकत्ते में सड़कों के जिस किनारे पर थियेटर है, मैं उस ओर के पैदल मार्ग से ही नहीं चलता था। अब तैंतीस वर्ष की उम्र में मैं वैश्याओं के साथ एक ही मकान में ठहर सकता हूँ। और उनसे तिरस्कार का एक शब्द कहने का विचार भी मेरे मन में नहीं आयेगा। क्या यह अधोगति है ? अथवा मेरा हृदय विस्तृत होता हुआ मुझे उस विश्वव्यापी प्रेम की ओर ले जा रहा है, जो साक्षात् भगवान् है ? लोग कहते हैं कि वह मनुष्य, जो अपने चारों ओर होने वाली बुराइयों को नहीं देख पाता, अच्छा काम नहीं कर सकता, उसकी परिणति एक तरह के भाग्यवाद में होती है। मैं तो ऐसा नही देखता। वरन् मेरी कार्य करने की शक्ति अत्यधिक बढ़ रही है और अत्यधिक प्रभावशील भी होती जा रही है।······ऐसा अनुभव करता हूँ कि 'मैं प्रत्येक प्राणी और वस्तु को

आशीर्वाद दूँ—प्रत्येक से प्रेम करूँ और गले लगा लूँ······।' यह है वह अग्नि मंत्र जो मनुष्य को उदार और लोक मंगलकारी बनने की प्रेरणा देता है। हमें अपनी भुजाएँ लम्बी करनी ही होंगी, प्रत्येक से प्रेम करने की कला सीखनी ही पड़ेगी, और सबको गले लगाने का विज्ञान जानना ही होगा। अन्यथा इस देश को रसातल में जाने से कौन रोक सकता है? घृणा और द्वेष का त्याग कर, अपनी संकीर्ण स्वार्थपरता से ऊपर उठकर, सब के सुख-दुख का सहभागी बनना होगा और अपने रोम-रोम से प्रेम का वह तराना छेड़ना होगा जिसकी गूँज में कटुता और कलुषता का कीचड़ ही बह जाय।

हम असहिष्णु हो गये हैं। इसीलिए पंजाब में आतंकवाद सिर चढ़ कर बोल रहा है। इसीलिए गोरखालैंड की माँग हो रही है। त्रिपुरा और गोआ में हत्याएँ हो रही हैं। भाषा के नाम पर तमिलनाडु में हिंसक घटनाएँ हो रही हैं। देश को खंड-खंड करने का भाव प्रबल हो रहा है। एकत्व का भाव छिन्न-भिन्न हो रहा है। और तमाम असहिष्णुताओं में सबसे भयंकर है धार्मिक असहिष्णुता -- धार्मिक उन्माद।

तो क्या हमें धर्म का परित्याग कर देना चाहिए? नहीं। धर्म को सही अर्थ में नहीं ग्रहण करने से ही तो उन्माद बढ़ता है। सच्चा धर्म हमारे हृदय को संकीर्णताओं से मुक्त करता है। स्वामीजी ने ट्रिप्लिकेन, मद्रास की साहित्य समिति में व्याख्यान करते हुए कहा था—"तुम्हारे लिए हृदय को मुक्त करना आवश्यक है। धर्म का अर्थ न गिरजे में जाना है, न ललाट रँगना है, न विचित्र ढंग का वेष धरना है। इन्द्रधनुष के सब रंगों से तुम अपने को चाहे भले ही रँग लो, किन्तु यदि तुम्हारा हृदय उन्मुक्त नहीं हुआ है, यदि तुमने ईश्वर का साक्षात्कार नहीं किया है तब सब व्यर्थ है। जिसने हृदय को रँग लिया है, उसके लिए दूसरे रँग की आवश्यकता नहीं। यही धर्म का सच्चा अनुभव है। परन्तु हमें यह न भूलना चाहिए कि रंग और ऊपर कही गयी सब बातें अच्छी तब तक मानी जा सकती हैं, जब तक वे हमें धर्म मार्ग में सहायता दें; तभी तक हम उनका स्वागत करते हैं। परन्तु वे प्रायः अधःपतित कर देती हैं और सहायता की जगह विघ्न हो खड़ा करती हैं, क्योंकि इन्हीं बाह्योपचारों को मनुष्य धर्म समझ लेता है। फिर मन्दिर का जाना आध्यात्मिक जीवन और पुरोहित को कुछ देना ही धर्म जीवन माना जाने लगता है। ये बातें बड़ी भयानक और हानिकारक हैं, इन्हें दूर करना चाहिए।" (विवेकानन्द साहित्य : पंचम खंड : पृ० १७६-७७)।

सच्ची बात यह है कि धर्म ही हमारा और हमारे देश का मूल आधार है। यही हमारा मेरुदण्ड है। इसके सही रूप को भूल जाना ही हमारी वर्तमान विसंगतियों और भंडताओं के मूल में है। स्वामीजी ने इस सम्बन्ध में बड़ी गंभीरता से विचार कर घोषणा की थी—"धर्म ही हमारे तेज, हमारे बल, यही नहीं, हमारे जातीय जीवन की भी मूल भित्ति है। ··· इसका अनुसरण करोगे तो यह तुम्हें गौरव की ओर ले जायगा। इसे छोड़ोगे तो मृत्यु निश्चित है। अगर तुम उस जीवन प्रवाह से बाहर निकल आये तो मृत्यु ही एकमात्र परिणाम होगा और पूर्ण नाश ही एकमात्र परिणति। मेरे कहने का यह मतलब नहीं कि दूसरी चीज की आवश्यकता ही नहीं। मेरे कहने का यह अर्थ नहीं कि राजनीतिक या सामाजिक उन्नति अनावश्यक है,

किन्तु मेरा तात्पर्य यही है और मैं तुम्हें सदा इसकी याद दिलाना चाहता हूँ कि ये सब यहाँ गौण विषय हैं, मुख्य विषय धर्म है। भारतीय मन पहले धार्मिक है, फिर कुछ और। अतः धर्म को ही सशक्त बनाना होगा।" (वही; पृ० १८२-८३)।

आज पंजाब की समस्या हमें आक्रांत किये है। किन्तु पंजाब के लिए स्वामीजी के हृदय में असीम अनुराग था। उनकी वाणी को प्रत्येक देशवासी के लिए हृदयंगम करने की आवश्यकता है। लाहौर में बोलते हुए उन्होंने कहा था—"यह वही भूमि है, जो पवित्र आर्यावर्त में पवित्रतम मानी जाती है ⋯⋯। यह वही भूमि है, जहाँ से आत्मतत्त्व की उच्चाकांक्षा का वह प्रवल स्रोत प्रवाहित हुआ है, जो आने वाले युगों में, जैसा कि इतिहास से प्रकट है, संसार को अपनी बाढ़ से आप्लावित करनेवाला है। ⋯ यह वही वीर भूमि है, जिसे भारत पर चढ़ाई करने वाले शत्रुओं के सभी आक्रमणों का आघात सबसे पहले सहना पड़ा था।⋯⋯यह वही भूमि है, जिसने इतनी आपत्तियाँ झेलने के बाद भी अबतक अपने गौरव और शक्ति को एकदम नहीं खोया। यही भूमि है, जहाँ बाद में दयालु नानक ने अपने अद्भुत विश्वप्रेम का उपदेश दिया; जहाँ उन्होंने अपना विशाल हृदय खोलकर सारे संसार को—केवल हिन्दुओं को नहीं, वरन् मुसलमानों को भी—गले लगाने के लिए अपने हाथ फैलाये। यहीं पर हमारी जाति के सब से बाद के तथा महान् तेजस्वी वीरों में से एक, गुरु गोविन्द सिंह ने धर्म की रक्षा के लिए अपना एवं अपने प्राग-प्रिय कुटुम्बियों का रक्त बहा दिया; और जिनके लिए यह खून की नदी बहायी गयी, उनलोगों ने भी जब उनका साथ छोड़ दिया, तव वे मर्माहत सिंह की भांति चुपचाप दक्षिण देश में निर्जन वास के लिए चले गये और अपने देश-भाइयों के प्रति अधरों पर एक भी कटुवचन न लाकर, तनिक भी असन्तोष प्रकट न कर, शान्तभाव से इहलोक छोड़कर चले गये।"

आगे पुनः वे एक संदेश देते हैं—"अतीत कालीन इन पुरुषों की जय हो! उन्होंने देश का बहुत ही कल्याण किया है। पर आज हमें एक महावाणी सुनायी दे रही है, 'बस करो, बस करो'। निन्दा पर्याप्त हो चुकी, दोष-दर्शन वहुत हो चुका। अब तो पुनर्निर्माण का, फिर से संगठन करने का समय आ गया है। अव अपनी समस्त बिखरी हुई शक्तियों को एकत्र करने का, उन सब को एक ही केन्द्र में लाने का और उस सम्मिलित शक्ति द्वारा देश को प्रायः सदियों से रुकी हुई उन्नति के मार्ग में अग्रसर करने का समय आ गया है। घर की सफाई हो चुकी है। अब आवश्यकता है उसे नये सिरे से आवाद करने की। रास्ता साफ कर दिया गया है। आर्य सन्तानो, अब आगे बढ़ो।" (वही पृ० २५७-५८)

स्वामीजी की उपर्युक्त वाणियों पर आज चिन्तन मनन करने की कितनी जरूरत है, इसे आप सहज ही समझ सकते हैं। स्वामीजी के इन्हीं उदात्त विचारों के कारण रवीन्द्रनाथ टैगोर ने रोम्याँ रोलाँ से कहा था—"यदि आप भारत को जानना चाहते हैं तो विवेकानन्द का अध्ययन कीजिये। उनमें सब कुछ विधेयात्मक (स्वीकारात्मक) है, ऋणात्मक (नकारात्मक) कुछ भी नहीं।"

केवल रोम्याँ रोलाँ का नहीं, आज प्रत्येक भारतवासी का कर्तव्य है कि वह स्वामीजी के

साहित्य को पढ़े और नये भारत के, एक सुखी-सम्पन्न, शान्तिपूर्ण और प्रेमपूर्ण, अखंड भारत के निर्माण में अपने प्राणपण से पिल पड़े। पं० जवाहर लाल नेहरू ने कहा था—"मेरी पीढ़ी के लोगों ने विवेकानन्द का अध्ययन किया था। मेरी इच्छा है कि वर्तमान पीढ़ी भी विवेकानन्द को पढ़े। उनके उपदेशों में एक आग है। विशेषकर उनकी दो पुस्तकें सभी युवकों को अवश्य पढ़नी चाहिए: एक - 'भारत में विवेकानन्द' जिसने राष्ट्र को झकझोर दिया था तथा स्वाधीनता के लिए लड़ने को कटिबद्ध किया था और दो—'पत्रावली' जिसमें भारतीय जनता के दुःखदर्दों के लिए वे अपने प्राणों की पीड़ा को प्रकट करते हैं ···मेरी इच्छा है कि हमारे युवक विवेकानन्द की आग—लोगों के लिए उनके प्रेम और सेवा भाव—का एक स्पर्श प्राप्त करें।"

मेरे मित्रो, स्वामीजी की उस आग को छूने का, अर्थात् उनकी वाणी को हृदयंगम करने का और तदनुसार अपने और अपने राष्ट्र के जीवन को सजाने, सँवारने और समृद्ध करने का उपयुक्त अवसर आ गया है। स्वामीजी की उस आग की उष्मा से एक नया भारत उठे—प्रेम का भारत, त्याग और सेवा का भारत, धर्म की अखंड ज्योति का भारत उठे और उठकर अपने आलोक से समग्र विश्व को आलोकित करे—यही स्वामीजी से मेरी आंतरिक प्रार्थना है। जय स्वामीजी!

·········
·········

स्वामी विवेकानन्द जन्मतिथि: २२ जनवरी

शिवावतार स्वामी विवेकानन्द

स्वामी ब्रह्मेशानन्द
रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वाराणसी

(१)

सैकड़ों वर्षों में एकाध वार अन्तरिक्ष के किसी दिव्य लोक के कोई अभूतपूर्व निवासी देवमानव इस धरा-धाम पर अवतीर्ण हो, मानव जाति को अपने अद्भुत जीवन से चकाचौंध कर पुनः अदृश्य में विलीन हो जाते हैं। स्वामी विवेकानन्द भी ऐसे ही एक देवमानव थे। उनके दैवी स्वरूप को यदि किसी ने ठीक-ठीक पहचाना था तो केवल उनके गुरु श्रीरामकृष्ण ने ही। श्रीरामकृष्ण कभी उन्हें सप्त-ऋषि मंडल के एक ऋषि कहते थे तो कभी उन्हें नर ऋषि के अवतार बतलाते थे। लेकिन उनके शिव स्वरूपत्व को वे अत्यधिक महत्व दिया करते थे। एक दिन उन्होंने देखा कि एक दिव्य ज्योति वाराणसी से कलकत्ता को आ रही है। स्वामी विवेकानन्द को देखकर वे पहचान गये कि यही वह युवक है, जिसके रूप में शिव-ज्योति घनीभूत हुई है। यदि कोई युवक नरेन्द्रनाथ की निन्दा करता तो श्रीरामकृष्ण उसे रोकते और साव-

ध्यान करते हुए कहते कि ऐसा करने से शिव की कृपा होगी । वे तो यहाँ तक कह गये हैं कि नरेन्द्र शिव हैं और मैं शक्ति ।

स्वामी विवेकानन्द के गुरु भाई भी उन्हें शिवावतार मानकर श्रद्धाभक्ति करते थे । नाग महाशय जब बेलुर मठ आते तो स्वामीजी को "जय शंकर, जय विश्वनाथ, आज साक्षात् शिव के दर्शन हुए हैं," इत्यादि कहकर प्रणाम करते थे । एक बार स्वामी ब्रह्मानन्दजी काशी में लम्बे समय तक रहे । स्वामी प्रेमानन्दजी के द्वारा बार-बार बेलुर मठ से बुलाये जाने पर भी वे यह कहकर मठ नहीं जाते थे कि मैं बाबा विश्वनाथ के पास आनन्द में हूँ । इस पर प्रेमानन्दजी ने उन्हें लिखा कि मठ में भी तो शिवजी विराजित हैं । स्वामीजी के इन महान गुरु भाइयों की दृष्टि में स्वामीजी सदा ही मठ में विराजित हैं । एक बार स्वामी शिवानन्दजी ने स्वामीजी की देह में पांच ज्योतिर्मय बाल-शिवों का दर्शन किया था ।

(२)

स्वामीजी का शिव से सम्बन्ध - दिव्य दृष्टि सम्पन्न श्रीरामकृष्ण एवं उनके महान अन्तरंग शिष्यों के इन विभिन्न दर्शनों की हम उपेक्षा नहीं कर सकते । हमें विश्वास करना होगा कि स्वामी विवेकानन्द वस्तुतः शिवावतार ही थे ।

उनके जीवन का, जन्म से मृत्यु तक, भगवान शिव से सम्बन्ध रहा था । उनका जन्म काशी के वीरेश्वर शिव की पूजा एवं आशीर्वाद से हुआ था एवं उनकी मृत्यु अमरनाथ शिव के द्वारा प्रदत्त इच्छा-मृत्यु वरदान से हुई थी । बाल्यकाल में स्वामीजी अत्यन्त नटखट थे । जब वे किसी भी तरह शान्त नहीं होते तो उनकी माता उनके सिर पर ठंडा जल डालती हुई "शिव शिव" कहती थीं । इससे वे तत्काल शान्त हो जाते थे । परवर्ती काल में वे कहा करते थे कि जब माता मुझे यह कहती थीं कि यदि तू शैतानी करेगा तो शिव तुझे कैलाश नहीं जाने देंगे, तो मैं सोचता था कि मुझे शैतानी बन्द करके अच्छा बनना चाहिए, अन्यथा सचमुच मैं कैलाश नहीं जा सकूँगा ।

बालक नरेन्द्रनाथ का धार्मिक जीवन बचपन में सीताराम की मूर्ति पूजा से प्रारंभ हुआ था । लेकिन एक दिन जब उन्होंने किसी व्यक्ति से विवाहित जीवन की निन्दा सुनी तो उनके मन में अन्तर्द्वन्द्व हुआ कि सीताराम जो विवाहित हैं, की पूजा कैसे करें । माँ ने बालक को, समस्या सुलझाकर शिवजी की पूजा करने का सुझाव दिया । बस, नरेन्द्र ने सीताराम की जगह भगवान शंकर की मूर्ति स्थापित कर दी । इसका यह अर्थ नहीं कि सीताराम के प्रति उनकी भक्ति नहीं रही । वे जीवन भर भगवान राम एवं माँ सीता के भक्त रहे । लेकिन बाल्यकाल से ही उन्होंने भगवान शंकर को ही अपने आदर्श के रूप में चुन लिया था । बाल्यकाल में वे एक बार संन्यासी वेश पहनकर शिव जैसे सजे भी थे ।

शैशव से ही स्वामीजी में किसी न किसी रूप में, जाने-अनजाने, शिव-सम बनने का प्रयत्न देखा गया था । शिवजी का एक रूप नटराज भी है । वे संगीत एवं नृत्य कला के देवता हैं । स्वामीजी भी प्रारम्भ से ही नृत्य-गीत में पारंगत हो गये थे । वे एक उच्च कोटि के गायक थे और गाते समय शिव की भाँति पूरी तरह तन्मय हो जाते थे ।

स्वामीजी अपने बाल्यकाल से शिवरात्रि विशेष उत्साह से मनाया करते थे । शैशव में रात्रि को नाटकादि करते, और बड़े होने पर पूजा एवं ध्यान । श्रीरामकृष्ण जब गले के कैन्सर से पीड़ित हो काशीपुर के उद्यान भवन में चिकित्सा करवा रहे थे, तब एक शिवरात्रि को ध्यान करते समय स्वामीजी में विशेष शक्ति का उन्मेष हुआ था, जिसका संचार उन्होंने निकटस्थ काली (स्वामी अभेदानन्द) में किया था । विश्वविजयी होने के बाद, एक बार शिवरात्रि के दिन सभी गुरु भाइयों ने मिलकर स्वामीजी को शिव रूप में सजाया था, तब स्वामीजी शिव के भाव में विभोर हो तन्मयता से राम-नाम लेते हुए गाने लगे थे । उन्होंने संस्कृत में एक शिव-स्त्रोत

एवं शिवजी पर दो अन्य भजनों की रचना की है।

(३)

श्रीरामकृष्ण एवं स्वामीजी के गुरु भाइयों की उनके विषय में अनुभूतियाँ, एवं स्वामीजी के जीवन का शिव के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध अनेक श्रद्धालु भक्तों के लिए यह सिद्ध करने के लिए कि स्वामीजी शिवावतार थे, पर्याप्त प्रमाण हो सकते हैं। वस्तुत: भगवान शंकर ज्ञान वैराग्य एवं विवेक के देवता हैं। वे एक शान्त कल्याण-कारी, रागादि-दोष-रहित अवस्था के प्रतीक हैं। शिव स्वभाव क्या है ? वह एक ऐसी तीक्ष्ण अन्तर्दृष्टि है, एक ऐसी सत्यानुसंधानकारी शक्ति है, जो समस्त असत्य आवरण भेद कर सत्य को प्राप्त करती है। भगवान शिव इसी के प्रतीक हैं। वे संन्यासियों के देवता हैं। उनके बाहर ज्ञान है व हृदय में रामभक्ति। वे सर्वत्यागी होकर भी जगत् कल्याण के लिए ध्यानस्थ हैं। ऐसे भगवान शिव ही समग्र भारतवर्ष के आराध्य देव, सर्वशास्त्र प्रणेता, गुरुओं के भी गुरु, परम गुरु हैं। भगवान शंकर के ये विभिन्न गुण उनके बाहरी रूप में भी प्रतीकात्मक ढंग से अभिव्यक्त किये गये हैं। वे श्वेत वर्ण एवं नीलकंठ, हैं। सिर पर गंगा एवं अर्ध-चन्द्र सुशोभित हैं। वे डमरू त्रिशूल नागाभूषण-धारी एवं त्रिनेत्र हैं। वाम भाग में माँ भवानी हैं; वृषभ उनका वाहक है। वे सामान्यत: समाधिस्थ रहते हैं, लेकिन लोक कल्याण के लिए समाधि-भंग भी करते हैं।

स्वामी विवेकानन्द का बाह्य रूप अवश्य शिवजी जैसा नहीं था, लेकिन उनमें वे सब गुण विद्यमान थे, जिनके कि शिवजी के विभिन्न अंग-प्रत्यंग प्रतीक हैं।

(२) **त्रिनेत्र**—विवेक, ज्ञान, अन्तर्दृष्टि, एवं अनुभूति-प्रमाण का प्रतीक यह तृतीय नेत्र सदा बन्द रहता है। समाधिस्थ अवस्था में भगवान शिव तीनों नेत्र बन्द करके इन तीनों द्वारा हृदय में अपने आराध्यदेव के दर्शन में तन्मय रहते हैं। दो नेत्र खुलने पर भी तीसरा नेत्र सदा बन्द रहता है अर्थात् ज्ञान, विवेक के नेत्र से वे सदा भगवान को देखते रहते हैं। स्वामी विवेकानन्द भी ध्यान सिद्ध योगी थे जिनके मन का एक भाग संसार के सभी कार्य करते हुए भी भगवच्चिन्तन में निमग्न रहता था। अमेरिका में उनकी इस अन्तर्मुखता के कारण कभी-कभी वे ट्राम में बैठकर तत्काल समाधिस्थ हो जाया करते थे, जिससे वे निर्दिष्ट स्थान पर ट्राम से उतर नहीं पाते थे। उन्हें अपने मन को बाह्य जगत में लाने के लिए प्रयत्न करना पड़ता था।

तृतीय नेत्र विवेक दृष्टि का भी प्रतीक है। जब भगवान शंकर के हृदय में काम ने क्षोभ उत्पन्न किया तो उन्होंने इसी नेत्र का उन्मोचन कर उसे भस्म कर दिया था। जो अन्तर्दृष्टि भगवत् चिन्तन में लगी रहती है वही मन में पैदा हो रहे क्षोभ का कारण पता लगा-कर उसे भस्म कर सकती है। स्वामी विवेकानन्द के पास वह दृष्टि थी। एक बार पेरिस में उन्होंने एक अतीव सुन्दरी रमणी को देखा, लेकिन दूसरे ही क्षण उनकी विवेक दृष्टि ने उनके भीतर हाड़ मांस को दिखाकर सौन्दर्य की वास्तविकता प्रकट कर दी। यही नहीं, एक बार तो स्वामी-जी ने अक्षरश: काम को भस्म कर दिया था। वे एक धुनि के सामने बैठकर ध्यान कर रहे थे। अचानक उनमें काम का उन्मेष हुआ। वे तत्काल सामने जल रही अग्नि पर बैठ गये !! स्वामीजी के प्रखर विवेक की स्तुति करते हुए स्वामी रामकृष्णानन्दजी ने लिखा है।

विवेकजानन्द निमग्न चित्तं,
विवेकदानैक विनोद शीलम्,
विवेक भासा कमनीय कान्तिं।
विवेकिनं तं सततं नमामि॥

तीन नेत्र श्रुति, युक्ति, अनुभूति, इन तीन प्रमाणों के प्रतीक भी समझे जा सकते हैं। अधिकांश लोग सत्य को श्रुति एवं युक्ति इन दो प्रमाणों से जान पाते हैं। विरले कुछ ही महापुरुष अनुभूति सम्पन्न होते हैं। तीसरा नेत्र इस अनुभूति अथवा सत्य के अपरोक्ष ज्ञान का प्रतीक है। स्वामी विवेकानन्द इसी प्रकार के अपरोक्ष ब्रह्मज्ञानी थे।

सर्प—काल एवं नाश का प्रतीक सर्प भगवान शिव का आभूषण है। शिव निर्गुण निराकार होने के कारण कालातीत हैं, और संहार के देवता होने के फलस्वरूप मृत्युंजय हैं। स्वामी विवेकानन्द ने भी अमरनाथ में इच्छा-मृत्यु का वर पाकर काल पर, मृत्यु पर विजय प्राप्त की थी। बाल्यकाल में ध्यान का खेल खेलते समय जब वे सचमुच ध्यानस्थ हो गये थे, तो अचानक उनके अनजाने में एक सर्प उनके निकट आ गया था। क्या वह अपने आराध्यदेव को पहचान कर उनके पास आया था? कौन जाने।

डमरू—डमरू नाद, शब्द का प्रतीक है। भगवान शिव जो सन्देश या उपदेश संसार को देना चाहते हैं, इसी के माध्यम से देते हैं। संस्कृत व्याकरण के आधार माहेश्वर-सूत्रों का उद्भव इस डमरू से ही हुआ था। स्वामीजी ने भी एक नाद किया था, अभयवाणी का "अभिरभि हुंकारनादित दिग्मुख।" भगवान शिव के डमरू निनाद से दुष्टजनों का हृदय भय से संतप्त हो जाता था। इसी प्रकार स्वामीजी के वीर गर्जन से जहां उनके विदेशी कट्टरवादी ईसाई प्रतिद्वन्द्वी भयग्रस्त हो गये थे, वहीं कोलम्बो से अलमोड़ा तक किये गये उनके सिंहनाद से भारतवासियों का भय दूर होकर उनमें साहस का संचार हुआ था।

त्रिशूल—त्रिशूल संहार का प्रतीक है जिससे भगवान शिव ने दक्ष का सिर काटा था। दक्ष कर्मकाण्डी, पाखंडी, अहंकारी पुरोहितों का प्रतीक है। स्वामीजी पुरोहितों एवं पंडों के कट्टर विरोधी थे। त्रिशूल की तीन नोकों को काम, क्रोध एवं लोभ इन आन्तरिक दोषों के नाशक के रूप में भी लिया जा सकता है। स्वामीजी के पाप नाशक दोष नाशक रूप का स्मरण करते हुए उनके शिष्य शरत् चन्द्र ने उन्हें "अघदलविदलनदक्षं" कहा है। वस्तुत: स्वामीजी का ध्यान एवं उनके साहित्य का पाठ समस्त दोषों को विदूरित करता है।

नीलकंठ--भगवान शिव के कंठ में शोभित गरल उनकी परम कृपालुता का परिचायक है। समुद्र मन्थन के समय जब गरल निकलकर सबको भस्म करने लगा तब भगवान शंकर ने जगत् कल्याण के लिए उसे सहज ही में पी लिया। दूसरों के कल्याण के लिए स्वयं कष्ट सहना स्वामीजी का जीवन व्रत था। यहाँ तक कि दूसरों के लिए अत्यधिक परिश्रम के फलस्वरूप उनकी अकाल मृत्यु हो गयी। वे दीन, दु:खी, दरिद्रों के कल्याण के लिए बार-बार जन्म लेकर दु:ख सहन करने को तत्पर थे। इसके अतिरिक्त बाह्य, स्थूल दृष्टि से भी, जिस अपवित्र अन्न को अन्य साधक एवं श्रीरामकृष्ण के अन्य शिष्य खाकर नहीं पचा पाते थे, उस आध्यात्मिक दृष्टि से विषसम भोजन को स्वामीजी निर्विकार रूप से आत्मसात् कर पाते थे।

गंगा—गंगा ज्ञान की प्रतीक है "ज्ञान प्रवाहा विमलादि गंगा।" ज्ञान से लौकिक ज्ञान नहीं समझना चाहिए। वास्तविक ज्ञान, चरम ज्ञान तो परा विद्या है जिसके द्वारा ब्रह्मात्मैकत्व का बोध हो। श्रीरामकृष्ण के शिष्यों में स्वामीजी ही ऐसे विशुद्ध अद्वैत वेदान्त के एक मात्र अधिकारी थे। श्रीरामकृष्ण कहते थे कि नरेन्द्र में सदा ही ज्ञानाग्नि जल रही है, जो सभी दोषों को तत्काल भस्मसात् कर देती है। गंगा पतितपाविनी है, और ज्ञान को भी गीता में पावनकर्त्ता कहा गया है "न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।" तुलसीदासजी गंगा को रामभक्ति का द्योतक मानते हैं; रामभक्ति जहँ सुरसरि धारा"। स्वामीजी बाहर ज्ञानी दिखाई देते थे, लेकिन भीतर से वे परम भक्त थे। अपनी भक्ति के उद्रेक को वे तीव्र ज्ञान और कर्म द्वारा दबाये रखने का प्रयत्न करते थे। गंगा कर्म की भी प्रतीक है—निरन्तर कार्यरत है वह और स्वामीजी में भी हम ज्ञान, भक्ति एवं कर्म-इन तीनों की समन्वयरूपी गंगा को पाते हैं।

वक्रचन्द्र - जो अपूर्ण अथवा वक्र एवं कुटिल है जिसे कहीं आश्रय प्राप्त नहीं होता, ऐसे चन्द्र को आश्रय प्रदान करना शिवजी की करुणा एवं उदारता का द्योतक है। स्वामीजी में यह उदारता अपनी सीमा लाँघ गयी है।

इसका श्रेष्ठतम उदाहरण उनके हाजरा महाशय के प्रति स्नेह में । मिलता है श्री प्रतापचन्द्र हाजरा श्रीरामकृष्ण के पास दक्षिणेश्वर में रहा करते थे । वे कुछ वक्रबुद्धि थे । अद्वैत की चर्चा करते थे, पर उनको सदा स्वयं के ऋण-शोधन की चिन्ता लगी रहती थी । उनकी इस कुटिल बुद्धि के कारण श्री रामकृष्ण उनपर कृपा नहीं करते थे । लेकिन स्वामीजी की उनके साथ मित्रता थी और इसीलिए उनका उद्धार भी हो गया । स्वामीजी ने श्रीरामकृष्ण पर अन्त समय में उसपर कृपा करने के लिए जोर दिया था ।

श्मशानचारी—शिवजी का निवास श्मशान में, भूतप्रेतों के साथ है । वे चिताभस्म अपने शरीर पर लगाते हैं । श्मशान संसार से वैराग्य का प्रतीक है एवं भस्म समस्त ऐषणाओं-वासनाओं के त्याग का प्रतीक । स्वामीजी भी अपने शिष्यों से कहा करते थे कि संसार के लोग जीवन से प्रेम करते हैं, तुम मृत्यु से प्रेम करना सीखो । यही नहीं, वे चाहते थे कि जिस प्रकार मां काली शिव के वक्ष पर नृत्य करती हैं, उसी प्रकार वे हमारे हृदय में करें । वे लिखते हैं :

> **चूर-चूर हो साध, स्वार्थ, सब मान**
> **हृदय हो महाश्मशान, नाचे उस पर श्यामा ।**

अमेरिका में कभी-कभी उनके साथ विचित्र बेतुके लोगों को घूमते देखा जाता था । पूछने पर स्वामीजी कहते थे कि ये मेरे भूत हैं ।

आशुतोष भोलानाथ—अल्प संतुष्टि, एवं थोड़े में प्रसन्न हो सब कुछ दे डालना जिस प्रकार शिवजी का लक्षण है, उसी प्रकार वह स्वामीजी का भी गुण था । एक बार एक युवक उनकी सोने की घड़ी को ललचाई दृष्टि से देख रहा था । स्वामीजी ने तत्काल उसे उतार कर उस युवक को दे दी । मैसूर के महाराजा स्वामीजी को कुछ देना चाहते थे । आत्माराम स्वामीजी क्या चाहते ? अन्त में राजा के सन्तोष के लिए एक हुक्का खरीदा । परिवर्ती काल में उन्होंने अनेक अधिकारी-अनधिकारी युवकों को मंत्र दीक्षा दी थी । जब उनके अन्य साथी उनसे शिकायत करते कि आप इन लोगों के चरित्र को बिना परखे ही दीक्षा देते हैं । तब स्वामीजी ने कहा था : "मैं इनके चरित्र को ही नहीं, भूत-भविष्य सबको कहीं अच्छी तरह जानता हूँ ! पर कृपा किये बिना रह नहीं पाता । मैं इन्हें यदि त्याग दूँ तो कौन इन्हें स्वीकार करेगा !"—क्या यह शिवाजी का लक्षण नहीं है ?

(४)

पार्वती, गणेश एवं षडानन भगवान शंकर के परिवार के सदस्य हैं । पार्वती विभिन्न आध्यात्मिक अर्थों की प्रतीक हैं । शंकराचार्य के अनुसार आत्मा ही शिव है तथा गिरिजा मति या बुद्धि हैं । "आत्मा त्वं गिरिजा मतिः···।" केनोपनिषद् में उमा हैमवति का उल्लेख आता है जिसके माध्यम से इन्द्र ब्रह्म को पहचानने में सफल हुए थे । वहाँ उमा को ब्रह्म-विद्या माना गया है । तुलसीदासजी उन्हें श्रद्धा स्वरूपिणी कहते हैं, "भवानी शंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ ।।"

मति या बुद्धि आत्मा का सबसे निकट का आवरण है । उसमें आत्मा का सबसे अधिक प्रकाश पड़ता है । प्रत्येक आत्मा शिव या ब्रह्म ही है । लेकिन बुद्धि की मलिनता के कारण हम अपने शिव स्वरूप को पहचान नहीं पाते । शिव के विशेष गुण प्रकट नहीं होने तक, बुद्धि के शुद्ध न होने तक जीव शिव नहीं हो पाता । पार्वती की कथा बुद्धि के इस विशुद्धीकरण की ही कथा है । बुद्धि की सार्थकता श्रद्धा में परिणत होने में है ।

सर्वप्रथम भगवती, दक्ष की पुत्री सती के रूप में जन्म लेती हैं । तब उनमें संशयात्मक बुद्धि है । उन्हें भगवान रामके अवतारत्व के विषय में संशय होता है । इस पर भगवान शिव उन्हें त्याग देते हैं । दक्ष यज्ञ में शिव के अपमान के कारण अपना शरीर त्याग कर वे हिमालय की पुत्री पार्वती के रूप में जन्म ग्रहण करती हैं तथा कठोर तप करके पुनः शिवजी को प्राप्त करती हैं । इस

पुनर्मिलन के फलस्वरूप गणेश एवं षडानन का जन्म होता है जो देवताओं की रक्षा करते हैं।

सती की तरह स्वामीजी की बुद्धि भी प्रारम्भ में संशयात्मक थी। वे श्रीरामकृष्ण के अवतारत्व के विषय में अन्त तक संदिग्ध बने रहे थे। और जिस प्रकार सती ने भगवान राम की परीक्षा ली थी, उसी प्रकार स्वामीजी ने भी श्रीरामकृष्ण की सभी प्रकार से परीक्षा ली थी। अन्त में गाजीपुर में बार-बार श्रीरामकृष्ण के दर्शन पाने के बाद उनका संशय दूर होकर बुद्धि में श्रद्धा का जागरण हुआ था। गुरु वाक्य में अडिग विश्वास ही श्रद्धा कहलाती है। संशयात्मक बुद्धि का परिणाम विनाश होता है, जो सती के जीवन में हुआ था "संशयात्मा विनश्यति।" लेकिन जिस बुद्धि में श्रद्धा का जन्म हो गया है, वही परा एवं अपरा विद्या रूप गणेश एवं षडानन को जन्म दे सकती हैं। गणेश सिद्धिदाता होने के साथ-ही-साथ परम ज्ञानी भी हैं। माता में समग्र ब्रह्माण्ड को देख वे ब्रह्माण्ड के बदले माता की प्रदक्षिणा करके ही संतुष्ट हो गये थे। लेकिन ज्ञान में भी सात्विक अहंकार की सम्भावना है। शिवजी द्वारा गणेश के मानव-सिर को काटना उस अहंकार के नाश का ही प्रतीक है। श्रीरामकृष्ण को मानने एवं अद्वैत ज्ञान में आरूढ़ होने के बाद भी स्वामीजी में एक बार सात्विक अहंकार का उदय हुआ था, जब कश्मीर में वे क्षीर भवानी के भग्न मंदिर को देखकर कह उठे थे कि मैं होता तो इसे टूटने न देता। इसी तरह कश्मीर के मुसलमान फकीर द्वारा उन पर शक्ति-प्रयोग के कारण भी स्वामीजीको अभिमान हुआ था और उन्होंने माँ सारदा से शिकायत के स्वर में कहा था कि वे श्रीरामकृष्ण को नहीं मानते जो एक फकीर से उनकी रक्षा न कर सके। क्षीर भवानी में माँ जगदम्बा की वाणी एवं कलकत्ता में माँ सारदा के आश्वासन से उनका यह सात्विक अहंकार गणेश के सिर की तरह नष्ट हो गया था।

असुरों पर विजय प्राप्ति के लिए षडानन की आवश्यकता है। कार्तिकेय के छः मुख विभिन्न प्रकार की अपरा विद्याओं के प्रतीक हैं। इसी प्रकार स्वामी विवेकानन्द भी अत्यन्त प्रखर बुद्धि एवं बहुमुखी प्रतिभा संपन्न व्यक्ति थे। स्मरण शक्ति, विद्वत्ता, वाकशक्ति, तर्क-विचार की क्षमता, मेधा आदि उनकी बौद्धिक शक्ति के अनेक रूप थे। इसी की सहायता से उन्होंने षडानन की तरह विश्व विजय की थी।

उपसंहार—देश काल एवं कार्य-कारण की सीमा में आबद्ध मन अमूर्त्त अचिन्त्य परमात्मा की कल्पना नहीं कर सकता। स्वामी विवेकानन्द के मतानुसार मानव मन परमात्मा की कल्पना मानव के रूप में ही कर सकता है, एवं अवतारी महापुरुष ही ऐसे आदर्श मानव हैं, जो मानव की कल्पना के भगवान के निकटतम आते हैं। भारतीय मन ने अपने उच्चतम आदर्श को शिव, विष्णु आदि पौराणिक पात्रों के माध्यम से चरितार्थ किया है। लेकिन वास्तविकता के निकट तो राम, कृष्ण, ईसा, रामकृष्ण एवं विवेकानन्द जैसे ऐतिहासिक महापुरुष ही आ सकते हैं, जिन्होंने आदर्श को दैनन्दिन जीवन में जीकर दिखाया है। अतः ये ही हमारे अधिकतम आराध्य हैं। स्वामी विवेकानन्द में शिवत्व की जितनी अभिव्यक्ति हुई है, उतनी संभवतः और किसी भी महामानव में आज तक नहीं हुई होगी। शिवादर्श को समझने के लिए स्वामीजी का जीवन एवं चरित्र सर्वश्रेष्ठ आलम्बन है। वस्तुतः गम्भीरता से विचार करने पर यह देखकर आश्चर्यचकित हो जाना पड़ता है कि स्वामीजी और भगवान शंकर में कितना साम्य है!

इस साम्य को समझने के लिए हमने प्रतीकों के बौद्धिक विश्लेषण का तरीका अपनाया है। लेकिन इस पद्धति से हम केवल शिवत्व के बाहरी व्यक्त रूप को ही समझ सकते हैं। मानव के चेतन मन के पीछे उससे कई गुना अधिक गहरा और व्यापक अचेतन मन पड़ा हुआ है, जिसकी भाषा प्रतीकात्मक होती है। अति चेतन स्तर भी उसी प्रकार व्यापक एवं विशाल है। आध्यात्मिक

अन्तर्दृष्टि सम्पन्न महापुरुष एवं ऋषि इस महान ज्ञान-राशि का प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं। उनका यह कहना कि स्वामीजी शिव के अवतार हैं, हमारी विश्लेषणात्मक बौद्धिक समझ से कई गुना अधिक महत्व एवं अर्थ रखता है, जिसे स्वयं उस अवस्था तक उठे बिना समझना असम्भव है, हम क्षुद्र-बुद्धि लोगों के लिए यह सरल विश्वास ही श्रेयस्कर एवं उचित है कि स्वामी जी वस्तुतः शिवावतार थे।

कर्मयोग

स्वामी वेदान्तानन्द
रामकृष्ण आश्रम, पटना

श्रीमद्भगवद्गीता के तृतीय अध्याय का नाम है—कर्मयोग। किन्तु कर्मयोग विषयक श्रीकृष्ण के अनेक उपदेश दूसरे अध्यायों में भी पाये जाते हैं। सभी उपदेशों का एक साथ विवेचन करने पर कर्मयोग के सम्बन्ध में हमलोगों को स्पष्ट धारणा हो सकेगी। इस निबन्ध में ऐसी ही चेष्टा की जायगी। 'मामनुस्मर युध्य च' नामक निबन्ध में विवेचित श्लोकों के पुनर्विवेचन की आवश्यकता नहीं है।

द्वितीय अध्याय के १६ से ३० वें श्लोकों तक आत्मा के स्वरूप का वर्णन हुआ है। परवर्ती कई श्लोकों में श्रीकृष्ण ने लौकिक दृष्टि का सहारा लेकर लोकनिन्दा का भय एवं स्वर्गवास और राज्यसुख की संभावना दिखाकर अर्जुन को युद्ध करने के लिए उत्साहित किया है।

तदुपरान्त श्रीकृष्ण ने कहा, आत्मा का स्वरूप तुम्हें बतलाया, अब कर्मयोग की साधना का उपाय तुम्हें बतलाता हूँ। इस उपाय का अवलम्बन लेकर केवल युद्ध ही क्यों, कोई भी कार्य तुम क्यों न करो, उस कार्य के फल-स्वरूप धर्म या अधर्म, पाप या पुण्य तुम्हें स्पर्श नहीं कर सकेगा, तुम शोक, ताप और भय से सदैव मुक्त रहोगे, 'कर्मबन्धं प्रहास्यसि' (२/३९)

साधारण मनुष्य सुख-प्राप्ति की आशा से एवं दुःख दूर करने, अथवा जिससे दुःख की प्राप्ति नहीं हो, इस उद्देश्य से सारे कार्यों में प्रवृत्त होता है। वह जिस परिवार के प्रतिपालन के लिए दिन-रात हड्डीतोड़ परि-श्रम करता है उसके पीछे भी यही एक लक्ष्य रहता है—अपने सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति। किन्तु स्थायी सुख की प्राप्ति ऐसे व्यक्तियों के भाग्य में बदा नहीं होता, दुःख भी नहीं मिट पाता। इसी से श्रीकृष्ण ने अर्जुन को एक ऐसी युक्ति दी, जिस युक्ति के सहारे कर्म करने पर सभी कार्यों के बीच मन हर घड़ी शान्त और स्थिर रहेगा। यह युक्ति है—(१) कर्म तुम्हें करना ही होगा, कर्म किये बिना तुम रह नहीं सकते। (२) किन्तु कर्म का फल-भोग करने की आशा नहीं रखो। (३) फल-प्राप्त करने के उद्देश्य से किसी कर्म में प्रवृत्त नहीं होओ। फिर (४) 'कर्म का फल ही यदि नहीं पाया तो व्यर्थ परिश्रम क्यों करूँ,' इस प्रकार का विचार कर कर्म करने के प्रति तुम्हारे मन में अप्रवृत्ति उत्पन्न नहीं हो। (२/४७)

कर्मयोग की साधना के लिए पहली आवश्यकता है—चरित्र बल, इन्द्रिय संयम। फिर केवल नीतियुक्त होने से ही नहीं होगा; नैतिक चरित्रवान व्यक्ति अहंकारी हो सकता है, 'मैं कर्ता हूँ'—यह धारणा जबतक प्रबल रहती है तब तक मनुष्य धीर-स्थिर भाव से कर्म नहीं

कर पाता। पूर्वकाल में किये गये अच्छे-बुरे अनेक कर्मों से जो संस्कार बना है उस संस्कार या स्वभाव के वशीभूत हो उसका चिन्तन करने तथा अनेक कार्यों को करने में प्रवृत्त होने को वह बाध्य होता है। जो मनुष्य जीवन में प्रकृत सुख-शान्ति पाना चाहता है, उसके लिए अहंकार त्याग करने का सहज उपाय है, ईश्वर के ऊपर आत्म समर्पण। किसी कर्म के परिणाम स्वरूप शोक, भय तथा मनस्ताप उत्पन्न न हो, इस भाव से सारे कार्य करने के चार साधारण नियमों की चर्चा ऊपर की गयी है। किन्तु मनुष्य सोचता है, 'मैं स्वाधीन हूँ; कोई कार्य करना या नहीं करना अथवा मेरी जैसी इच्छा होगी उसी के अनुसार कार्य करना मेरी इच्छा पर निर्भर करता है'। साधारण मनुष्य समझता नहीं कि वह अपने स्वभाव का, प्रकृति का दास है कि वह जो कुछ सोचता या करता है, बाध्य होकर ही करता है। साधारण मनुष्य सोचता है—'कोई भी कार्य करूँ, किन्तु उस कार्य से फल पाने की आशा नहीं करूँ, यह कैसा उपदेश है? कार्य के फल से सुख भी नहीं पाऊँगा, दुःख भी दूर नहीं होगा—तब केवल भूत को वेगार कर क्यों मरूँ?' और भी कठिन बात कही गयी है—कर्म का फल शुभ या अशुभ होगा, अथवा सारा परिश्रम व्यर्थ होगा,—किसी उपस्थित करणीय कर्म को करने के पहले इन सब विचारों को मन में स्थान नहीं देना। पुनः श्री कृष्ण कहते हैं—कार्य करने की अनिच्छा मन में नहीं आवे। इन उपदेशों को मानकर कार्य करना सब के लिए सम्भव नहीं होता।

जिस कौशल का अवलम्बन करने पर निष्काम भाव से कर्म करना सम्भव हो सकता है उसका नाम योग, अर्थात् कर्मयोग है। इस कर्मयोग की भित्ति होती है, जन्म-मरणरहित आत्मा के अस्तित्व में विश्वास—जिस आत्मा के स्वरूप का द्वितीय अध्याय के २० से ३० वें श्लोकों में कथन हुआ है। और इस कर्मयोग का आश्रय है—कर्तृत्व के अभिमान का त्याग कर ईश्वर में आत्म-समर्पण एवं कर्मफल का समर्पण करना। द्वितीय अध्याय के ४८ से ५१ वें तक के चार श्लोकों में इस कर्मकौशल या बुद्धियोग के विषय में विशेष रूप से कहा गया है।

यहाँ योग की दो संज्ञाएँ दी गयी हैं। एक है—समत्व को योग कहा गया है। 'समत्वं योग उच्यते' (२/४८) यह समत्व है, मानसिक विकार का अभाव। एक लक्ष्य को सामने रखकर मनुष्य कोई कार्य-कर्म आरम्भ करता है। किन्तु जो चाहा जाय, उसे सब समय पाया नहीं जाता। युद्ध में अर्जुन विजयी हो सकते हैं, अथवा दोनों पक्षों की शक्ति-सामर्थ्य के समान रूप से नष्ट होने के फलस्वरूप जय-पराजय का विवेचन नहीं भी हो सकता है। श्रीकृष्ण ने कहा—युद्ध के परिणाम जो घटित हों, घटे, किन्तु सभी अवस्थाओं में मन को शान्त-स्थिर रखना होगा। मन की इस तरह की शान्त अवस्था को योग कहा जाता है। इस योग का अवलम्बन कर "सारे कार्य करो।" 'योगस्थः कुरु कर्माणि' (२/४८) केवल विचार की सहायता एवं हृदय की वृत्तियों के अनुशीलन के द्वारा इस प्रकार की मानसिक साम्यावस्था की प्राप्ति कदाचित् किसी महाशक्तिशाली पुरुष के लिए ही सम्भव हो पाती है। इस अवस्था की प्राप्ति का प्रकृष्ट उपाय है—ईश्वर भक्ति, ईश्वर की प्रीति के लिए ही समस्त कर्मों का अनुष्ठान तथा कर्म का फल ईश्वर को ही समर्पित करना।

फल की कामना से जो कर्म किया जाता है वह अत्यन्त निष्कृट कर्म है एवं जो कर्म के सुफल का स्वयं भोग करने की आशा कर कर्म करने में प्रवृत्त होता है वह कृपण व्यक्तियों की भाँति हीनबुद्धि है। इसीलिए श्रीकृष्ण पूर्व कथित योग का अवलम्बन कर कार्य करने का निर्देश देते हैं तथा इस प्रकार की समत्व बुद्धि को 'बुद्धि योग' के नाम से अभिहित करते हैं। (२/४९)

इस प्रकार समत्व बुद्धि के सहारे जो कार्य करते हैं उन्हें पाप या पुण्य स्पर्श नहीं कर पाता। इसी से श्री कृष्ण ने कहा—बुद्धियोग का अवलम्बन लेकर कार्य करने का कौशल प्राप्त करना 'योगः कर्मसु कौशलम्' (२/५०) विलक्षण व्यक्ति बुद्धियोग के सहारे सारे कार्य करते हैं;

किसी प्रकार के फल की कामना कर किसी कार्य में वे प्रवृत्त नहीं होते। इस प्रकार वे अनासक्त भाव से ईश्वर की पूजा के रूप में सारे कार्य करते हैं। उन्हें मरने के बाद पुनः जन्म-ग्रहण करना नहीं होता, वे मोक्ष प्राप्त करते हैं। 'जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्।' (२/५१)

कर्मयोग की साधना का उद्देश्य और उपाय द्वितीय अध्याय में संक्षेप में बताया गया है। तृतीय अध्याय में इस विषय का विस्तृत रूप से विवेचन हुआ है।

संसार में मोटे तौर पर दो प्रकार के मनुष्य पाये जाते हैं; एक वर्ग के लोग स्वभावतः विचारप्रवण होते हैं; वे लोग मनुष्य का प्रकृत स्वरूप, मानवजीवन का उद्देश्य, रूप-रस आदि के विषयों में कोई स्थायी है या नहीं, इन विषयों में कौन या कितना जीवनधारण के लिए एकान्त रूप से प्रयोजनीय है—आदि का विचार करना उन्हें पसन्द होता है। कर्म में उनलोगों की स्वाभाविक अनिच्छा होती है। इस प्रकार के मनोभाव से युक्त ज्ञानयोग के साधक को सांख्य कहा गया है। एक, दो, तीन आदि संख्या के द्वारा गिनती कर जिस प्रकार एक साथ अवस्थित वस्तु, व्यक्ति या प्राणियों की यथार्थ संख्या जानी जाती है, उसी प्रकार ज्ञानमार्ग का अवलम्बन करने वाले साधकगण भी विचार के द्वारा जीव और जगत् के स्वरूप का निर्धारण करने की चेष्टा करते हैं। अतः ज्ञानयोगी को सांख्य कहा गया है। (३/२)

फिर एक और श्रेणी के लोग होते हैं, कार्य करने के प्रति जिनका स्वाभाविक आकर्षण होता है। इस श्रेणी के मनुष्यों में जो उन्नत जीवन जीने के आग्रही होते हैं उनके लिए फल की कामना का त्यागकर कर्मानुष्ठान करना विहित है। इस प्रकार ईश्वर की प्रीति-सम्पादन के उद्देश्य से तथा बहुजन हिताय बहुजन सुखाय जो कार्य करते हैं उन्हें कहा गया है कर्मयोगी। (३/३)

गीता के द्वितीय अध्याय में वर्णित जन्म-मरण रहित नित्य शुद्ध आत्मा के साथ अभेद भाव की उपलब्धि के जो ज्ञाता हैं, जो निरन्तर साधना में निरत रहने के इच्छुक होते हैं, वे समस्त दैहिक कार्यों का प्रायः त्याग कर देते हैं। किन्तु निष्काम कर्मानुष्ठान के फलस्वरूप जब तक मन से रूप-रस आदि के प्रति स्वाभाविक आकर्षण और विद्वेष का भाव तिरोहित नहीं होता तब तक किसी व्यक्ति के लिए कार्य पूर्णतया छोड़ देना संभव नहीं होता। कर्म छोड़ देने से ही आत्मज्ञान की प्राप्ति नहीं, होती, हो नहीं पाती। (३/४)

मनुष्य संसार की किसी वस्तु को प्रिय एवं किसी वस्तु को अप्रिय मानता है। वह मन में सोचता है—प्रिय वस्तु पाने से सुखी होगा तथा अप्रिय वस्तु का त्याग करने पर वह दुःख से छुटकारा पाएगा। सुख की प्राप्ति और दुःख से छुटकारे के लिए, वह अपने स्वभाव और संस्कार के द्वारा परिचालित होकर हर घड़ी कोई न कोई कार्य करने को बाध्य होता है। जब "कुछ नहीं करूँगा"—ऐसा सोचकर वह चुपचाप बैठा रहता है तब भी वह मन ही मन कुछ न कुछ सोचता रहता है। ऐसा कि वह अपनी नींद में भी अधिकांश समय अनेक प्रकार के सपनों को देखने में ही काटता है। इसीलिए विचार पूर्वक ईश्वर की सेवाबुद्धि लेकर सत् कर्म का अनुष्ठान करना सभी व्यक्तियों के लिए अवश्य करणीय है। (३/५)

शरीर से जो सब काम होते हैं, उन सब कार्यों को यथासंभव कम करके चुपचाप बैठे रहना बहुत कठिन नहीं है, किन्तु मन को रूप-रस आदि के भोग के चिन्तन से विरत रखना कष्ट साध्य है। इसी से श्रीकृष्ण कहते हैं—जो लोग कार्य-कर्म का त्याग करते हैं, मौन होकर बैठे रहते हैं, किन्तु मन ही मन विषय भोग की वासना रखते हैं एवं विषय सुख का भोग करते हैं, वे त्यागी महापुरुष नहीं, बल्कि भण्ड होते हैं। (३/६)

दूसरी ओर जो व्यक्ति विचारपूर्वक अपनी इन्द्रियों को संयत रखकर, अपने शरीर की रक्षा एवं पारिवारिक तथा सामाजिक दायित्वों के पालन के उद्देश्य से, अपने सुख-दुःख के प्रति ध्यान नहीं देकर कार्य करते

हैं तथा सारे कार्यों के फल ईश्वर को समर्पित करते हैं वे, ऊपर वर्णित मनः संयम में असमर्थ व्यक्ति की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। (३/७)

जब तक कोई व्यक्ति अपने मन को सम्पूर्णरूपेण वशीभूत नहीं कर पाता है, इच्छानुसार मन को किसी चिन्तन में नियुक्त अथवा उससे वियुक्त करने में समर्थ नहीं होता है तब तक उसे अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति एवं दैहिक और मानसिक सामर्थ्य के अनुसार प्राकृतिक एवं स्थान और काल की अवस्था और सामाजिक नीति का विचार कर किसी न किसी प्रकार का कार्य करना उचित है। (३/८)

(अगले अंक में समाप्य)

★

स्वामी विवेकानन्द और लोकमान्य तिलक

—स्वामी विदेहात्मानन्द
रामकृष्ण मठ, नागपुर

सन् १८९२ ई० के सितम्बर का महीना। बम्बई के विक्टोरिया टर्मिनस स्टेशन पर पूना की ओर जाने वाली ट्रेन खड़ी थी और उसके द्वितीय श्रेणी के डिब्बे में कुछ मराठी नवयुवक बैठे थे, जिनमें एक का नाम था बाल गंगाधर तिलक। ट्रेन छूटने के थोड़ी देर पूर्व उसी डिब्बे में एक युवा संन्यासी ने भी प्रवेश किया। कुछ गुजराती सज्जन उन्हें पहुँचाने रेल्वे स्टेशन को आये हुए थे। उन लोगों ने एक टिकट खरीदकर स्वामीजी को दी और तिलक से अनुरोध किया कि पूना पहुँचने पर वे वहाँ इन संन्यासी के ठहरने की व्यवस्था कर दें।

ट्रेन चलने के साथ ही नवयुवकों में आपसी बातचीत भी शुरू हुई। सम्भवतः उन लोगों ने सोचा था कि यह संन्यासी अँगरेजी भाषा से अनभिज्ञ होगा, अतः वे अँगरेजी में संन्यास के औचित्य और अनौचित्य को लेकर वितण्डा करने लगे। कुछ नवयुवकों ने संन्यास-आश्रम की निन्दा की और उसे अकर्मण्यता का प्रतीक बताया। दूसरी ओर तिलक अकेले ही उनकी सारी युक्तियों का खण्डन करते हुए संन्यासी-जीवन की श्रेष्ठता प्रतिपादित कर रहे थे। काफी देर तक उनका वाद-विवाद चला और पास ही बैठा युवक संन्यासी चुपचाप सब कुछ सुनता रहा। सुधारवादी युवकों की संन्यास-विरोधी थोथी दलीलें आखिर वह कब तक सुनता! संयम की भी एक सीमा होती है। उसने अपना मौन तोड़ते हुए प्रांजल भाषा में तिलक का समर्थन करते हुए उन्हें समझा दिया कि इतिहास, संस्कृत, शिक्षा, समाज-सुधार तथा धर्म के क्षेत्र में संन्यासियों की देन कितनी महत्त्वपूर्ण रही है। बुद्धदेव, ईसामसीह, शंकराचार्य और चैतन्य महाप्रभु संन्यासी ही तो थे और इनकी देन को यदि इतिहास से निकाल दिया जाय, तो फिर बचेगा ही क्या? और पिछले हजारों वर्षों से इन संन्यासियों ने ही तो भारत के विभिन्न प्रदेशों का दौरा करते हुए, हमारे राष्ट्रीय जीवन के उच्चतम आदर्शों का—शिक्षा, संस्कृति और धर्म का सर्वत्र प्रचार किया है और वह भी बिना कोई प्रतिदान लिये। स्वामीजी की अकाट्य युक्तियाँ सुनकर वे नवयुवक निरुत्तर रह गये। तिलक ने जिस प्रचण्ड शक्ति के साथ उस वाग्युद्ध में भाग लिया था, उसे देखकर स्वामीजी मुग्ध हो गये थे और तिलक भी स्वामीजी का अगाध पाण्डित्य तथा अपूर्व वाग्वैभव देख हतप्रभ रह गये थे।

पूना पहुँचने पर तिलक उन अद्भुत संन्यासी को अपने

घर ले गये, जहाँ उन्होंने आठ-दस दिनों तक निवास किया। स्वामीजी के इस पूना-प्रवास का तिलक ने अपने संस्मरणों में उल्लेख किया है। उनके कथनानुसार, उन दिनों स्वामीजी के पास सिर्फ दण्ड-कमण्डलु, मृगचर्म, दो-एक कपड़े और कुछ पुस्तकें थीं। वे अपने पास पैसे बिल्कुल न रखते थे और लोगों के साथ अधिक मिलना-जुलना या बातचीत भी नहीं करते थे। नाम पूछने पर उन्होंने बस इतना ही कहा था कि वे संन्यासी हैं। कई वर्षों के बाद ही तिलक को यह पता चल पाया था कि वे अनाम संन्यासी ही विश्ववन्द्य स्वामी विवेकानन्द थे। पर अभी तो वे दुनिया की नजरों से दूर एक अपरिचित अकिंचन भिक्षुक मात्र थे। सन् १८८६ ई० में अपने गुरुदेव के देहावसान के बाद से पिछले पाँच-छः वर्षों से वे परिव्राजक के रूप में भ्रमण करते हुए समूचे भारत और उसकी समस्याओं से परिचित होने का प्रयास कर रहे थे। कहीं वे ठहरते थे सच्चिदानन्द के नाम से, तो कहीं विविदिषानन्द के नाम से। वे अभी तक लोक-प्रसिद्धि आदि को टाल रहे थे, इसीलिए तिलक द्वारा नाम पूछने पर उन्होंने सिर्फ इतना ही कहा कि वे एक संन्यासी हैं।

अपने पूना-निवासकाल में वे कभी-कभी तिलक के साथ वेद-वेदान्त और गीता आदि विषयों पर चर्चा किया करते। महाराष्ट्र की नारियों में पर्दा-प्रथा का अभाव देख स्वामीजी ने यह आशा प्रकट की थी कि बौद्ध-युग की ही भाँति यहाँ के उच्चवर्ग की कुछ महिलाएँ यदि धर्म और आध्यात्मिकता के प्रचारार्थ अपना जीवन समर्पित कर दें, तो यह अति उत्तम होगा।

पूना के डेकन-क्लब की साप्ताहिक बैठकें उन दिनों हीराबाग में हुआ करती थीं। वहाँ ऐसी प्रथा थी कि प्रत्येक बैठक में कोई एक सदस्य किसी विषय पर व्याख्यान देता था और तत्पश्चात बाकी सदस्य उसी विषय पर वाद-विवाद करते। वहाँ की सभी कार्यवाहियों का माध्यम अँगरेजी था। तिलक उस क्लब के सदस्य थे और वहाँ नियमित रूप से जाया करते थे। एक दिन सन्ध्या को वे अपने साथ इन संन्यासी को भी क्लब की एक बैठक में ले गये। उस दिन वहाँ काशीराम गोविन्द नातू ने किसी दार्शनिक विषय पर एक सुन्दर-सा व्याख्यान दिया। अब प्रचलित प्रथा के अनुसार किसी अन्य सदस्य को उसी विषय पर अपने विचार प्रकट करने थे। परन्तु व्याख्यान का विषय थोड़ा गूढ़ होने के कारण कोई भी खड़ा न हुआ। तब तिलक ने स्वामीजी से कुछ बोलने का अनुरोध किया। स्वामीजी ने उसी के दूसरे पक्ष पर एक प्रांजल व्याख्यान दिया। विषय की इतनी सुन्दर व्याख्या सुनकर उपस्थित सभी लोग मन्त्रमुग्ध रह गये।

इस घटना के बाद पूना नगर के निवासियों से स्वामीजी की असाधारण प्रतिभा छिपी न रह सकी। उनसे मिलने और उनकी दो बातें सुनने के लिए आने-वालों का ताँता बँध गया। स्वामीजी उन लोगों के साथ धर्म एवं शास्त्रों पर चर्चा किया करते। लोक-समागम बढ़ जाने से उनके अध्ययन-मनन में बाधा पड़ रही थी। एक दिन उन्होंने तिलक से कहा कि अगले दिन वे चले जायेंगे, और प्रातः काल किसी के उठने से पूर्व ही वे महाबलेश्वर की ओर प्रस्थान कर चुके थे।

*　　*　　*

एक वर्ष बाद सन् १८९३ ई० में शिकागो में विश्व-धर्म-सम्मेलन हुआ और उसमें हिन्दू-धर्म का प्रतिनिधित्व कर स्वामीजी ने अभूतपूर्व ख्याति अर्जित की। सारे विश्व में उनकी धवल कीर्ति फैल गयी और भारत-वासियों के तो आनन्द का ठिकाना न रहा। राजनीतिक क्षेत्र में पराधीन भारत ने धार्मिक क्षेत्र में अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित कर ली थी। कई वर्षों तक स्वामीजी अमेरिका और यूरोप में वेदान्त-प्रचार करते रहे। तिलक के मन में उन संन्यासी तथा उनके कार्यों के प्रति खूब प्रशंसा का भाव था। उन्होंने अपने संवाद-पत्र 'मराठा' में स्वामीजी के धर्मप्रचार सम्बन्धी संवाद प्रकाशित किये और उनके 'हिन्दू-धर्म पर निबन्ध' की बड़ाई भी की। पर काश! तिलक को यह मालूम होता कि स्वामी विवेकानन्द वे ही तरुण संन्यासी थे, जो पिछले वर्ष व-

१० दिनों तक उनके घर में अतिथि के रूप में ठहरे थे। लगभग चार वर्ष बाद स्वामीजी वापस भारत लौटे। सर्वत्र ही उनका स्वागत और अभिनन्दन हुआ। प्राच्य में सबसे पहले वे श्रीलंका की राजधानी कोलम्बो में उतरे। वहाँ के एक दैनिक ने उनके चित्र के साथ उनकी संवर्धना तथा व्याख्यान आदि का संवाद प्रकाशित किया था तिलक को इस समाचार-पत्र में पहली बार स्वामीजी का फोटोग्राफ देखने को मिला। आकृति आदि में समानता देख तिलक के मन में प्रश्न उठा---क्या ये वही संन्यासी हैं? अपना सन्देह प्रकट करते हुए उन्होंने स्वामीजी को एक पत्र लिखा, जिसमें उन्होंने निवेदन किया कि यदि वे वही संन्यासी हैं, तो कलकत्ता जाने के रास्ते उन्हें दर्शन देते हुए जायँ यानी कि वे पूना होकर जायँ। पहले तो स्वामीजी ने सोचा था कि वे तिलक का आमंत्रण स्वीकार कर पूना जाएँगे, पर फिर विचार करने पर उन्हें लगा कि इतने कठोर परिश्रम के पश्चात् उन्हें तत्काल विश्राम की आवश्यकता है। फिर, उनके आगामी दो महीनों का कार्यक्रम पहले से ही निश्चित हो चुका था, जिसमें फेरबदल करने की कोई गुंजाइश नहीं थी। अतः तिलक के पत्र का उत्तर देते हुए स्वामीजी ने लिखा कि उनका अनुमान सही है और जहाँ तक पूना आने का प्रश्न है, उनकी हार्दिक इच्छा होते हुए भी फिलहाल वे न आ सकेंगे। उस पत्र में और भी बहुत सी महत्त्वपूर्ण तथा उत्साहवर्धक बातें लिखी थीं।* स्वामीजी यद्यपि तुरन्त पूना आने का कार्यक्रम न बना सके थे, परन्तु तिलक उनसे मिलने को इतने व्यग्र थे कि उन्होंने स्टीमर से श्रीलंका जाने का निश्चय किया और अपने घनिष्ठ सहयोगी वसुकाका के साथ निकल भी पड़े। पर विनायकराव चिपलूणकर की अस्वस्थता का समाचार पा उन्हें बीच रास्ते से लौट आना पड़ा था।

२७ और २८ जुलाई, १८९७ ई० को पूना में प्लेग अफसर मि० रैण्ड और लेफ्टिनेंट आयर्स्ट के हत्या काण्ड के सिलसिले में तिलक एवं उनके कुछ सहयोगियों को गिरफ्तार कर लिया गया तथा उनके पत्र 'केसरी' पर भी प्रतिबन्ध लग गया। स्वामीजी यह समाचार पाकर व्यथित हुए थे तथा उन्होंने अपना आक्रोश भी प्रकट किया था। ६ सितम्बर, १८९८ ई० को तिलक कारा-मुक्त हुए और शीघ्र ही उन्होंने 'केसरी' का पुनः प्रकाशन आरम्भ कर दिया। तिलक ने अपने इस संवाद-पत्र में स्वामीजी एवं उनके कार्य से सम्बन्धित अनेक समाचार प्रकाशित किये। इसी वर्ष दिसम्बर में कांग्रेस अधिवेशन में भाग लेने वे मद्रास गये। वहाँ उन्हें प्रसिद्ध सालीसीटर बिलगिरि अय्यर के ऐतिहासिक भवन 'कैसल करनन'* में ठहराया गया था। कभी उसी भवन में लार्ड क्लाइव रहा करते थे। जब किसी ने तिलक का ध्यान इस तथ्य की ओर आकर्षित करना चाहा, तो वे बोले कि इस जगह का महत्त्व लार्ड क्लाइव के निवास के कारण नहीं है, वरन् चूँकि इसी जगह पर विवेकानन्द को अपने धर्म-कार्य में प्रोत्साहन मिला था इसलिए मुझे इस भवन में ठहरने पर अभिमान है।

* * *

कहावत है कि पहाड़ यदि मुहम्मद के पास नहीं आता, तो मुहम्मद ही पहाड़ के पास जाएँगे। तिलक के बारम्बार आमन्त्रित करने के बावजूद स्वामीजी अपनी अस्वस्थता तथा व्यस्तता की वजह से पुनः पूना न जा सके। परन्तु विधि के विधानवश दो ही तीन वर्षों के भीतर तिलक को कलकत्ता आने का सुयोग हुआ। सन् १९०१ ई० में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का अधिवेशन

---

*"क्या अभी तक वह पत्र आपके पास है?"-- इस प्रश्न के उत्तर में तिलक ने कहा था--"नहीं, वह सम्भव न था। सन् १८९७ में ('केसरी' पर मुकदमा समाप्त होने के बाद) थोड़े से आवश्यक कागजों को छोड़ बाकी सब कुछ अग्निदेवता को सौंप दिया गया था। फिर भी उस पत्र का मजमून मुझे अब भी अच्छी तरह याद है।" ऐसा कहकर उन्होंने अपनी स्मृति से उस पत्र के कुछ वाक्य सुनाये थे।

*अब उस भव्य भवन का नाम विवेकानन्द 'हाउस' कर दिया गया है।

कलकत्ते में होना निश्चित हुआ था, जिसमें भाग लेने को देश के कोने-कोने से प्रतिनिधि कलकत्ते में आकर एकत्र होने लगे। तिलक को रिपन कॉलेज में ठहराया गया। कलकत्ता पहुँचते ही तिलक की स्वामीजी से मिलने की इच्छा बलवती हो उठी।

कांग्रेस अधिवेशन में भाग लेने आये हुए अनेक देश-प्रेमी, राजनीतिज्ञ और समाजसेवक प्रतिदिन सायंकाल स्वामीजी से मिलने बेलुड़ मठ जाया करते। स्वामीजी अपनी अस्वस्थता के बावजूद उनसे मिलते और धर्म, समाज तथा राजनीति आदि विविध विषयों पर चर्चा करते। उनके जीवनीकार की दृष्टि में मानो वहीं पर कांग्रेस का एक और अधिवेशन हो रहा था। लोकमान्य तिलक स्वामीजी से मिलने बेलुड़ मठ आये। इस ऐतिहासिक घटना के कई विवरण मिलते हैं, जिनमें प्रमुख हैं तिलक के अपने संस्मरण तथा स्वामीजी के मराठी शिष्य निश्चयानन्द द्वारा प्रदत्त विवरण। इन विविध विवरणों का अध्ययन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि तिलक केवल एक ही बार नहीं वरन् कई बार बेलुड़ मठ आये थे।

स्वामी निश्चयानन्द के वर्णनानुसार एक दिन दोपहर में तिलक नाव में बेलुड़ मठ आये और दक्षिण की ओर के बेल के वृक्ष के नीचे उतरे। वहाँ उनकी भेंट एक वृद्ध संन्यासी से हुई। तिलक ने उन्हें अपने नाम का कार्ड देते हुए स्वामीजी से मिलने की इच्छा प्रकट की। तिलक इन्तजार करते रहे और वे कार्ड लेकर मठ में इधर-उधर घूम कर लौट आये। उन्होंने सम्भवतः अस्वस्थ स्वामीजी के आराम में खलल डालना उचित न समझा, क्योंकि वे तिलक को और उनकी स्वामीजी के साथ विशेष मित्रता की बात को नहीं जानते थे। उन्होंने लौटकर तिलक से कहा कि स्वामीजी की तबीयत अच्छी नहीं है और वे अभी न मिल सकेंगे। तिलक ने विनयपूर्वक कहा कि आप कृपया इस कार्ड को सुविधानुसार उन्हें दे दीजिएगा। इसके बाद वे उसी नाव में बैठकर वापस लौट गये।

शाम को जब स्वामीजी अपने कमरे में से निकलकर नीचे आये, तो उन्हें वह कार्ड दिया गया। कार्ड पर तिलक का नाम देखते ही स्वामीजी ने पूछा कि वे कहाँ हैं? उन वृद्ध संन्यासी ने उत्तर दिया कि वे दोपहर को आकर लौट गये। स्वामीजी नाराज होकर उन्हें डाँटने-फटकारने लगे, फिर निश्चयानन्द से बोले—देख! तू तो मराठी है, तू तिलक को जानता है, तूने मुझे खबर क्यों नहीं दी? इसके बाद स्वामीजी ने तुरन्त अपने हाथ से तिलक को एक पत्र लिखा, जिसमें उन्होंने भेंट न हो पाने पर दुःख प्रकट करते हुए उन्हें पुनः आने का निमंत्रण दिया।

श्री विष्णु विनायक रानडे अपनी स्मृतिकथा में लिखते हैं कि स्वामीजी का पत्र पाने के दो-एक दिनों के भीतर ही तिलक अपने १०-१२ सहयोगियों के साथ बेलुड़ मठ आये। स्वामीजी ने उनका हाथ पकड़कर उन्हें नौका से नीचे उतारा और उन्हें आलिंगन-पाश में जकड़ लिया। दोनों के नेत्रों से आनन्दाश्रु प्रवाहित हो रहे थे। दर्शकों को लगा कि यह बंगाल और महाराष्ट्र का मिलन है। निश्चयानन्द के विवरण के अनुसार स्वामीजी मठ-भवन के दक्षिण तरफ के मैदान में तिलक के साथ टहलते हुए तरह-तरह की बातें करने लगे। वहाँ किसी को भी जाने की अनुमति न थी। दूर से उनके हाव-भाव को देखकर ऐसा प्रतीत हो रहा था कि स्वामीजी उत्तेजित होकर, सिर और हाथ हिला-हिलाकर बातें कर रहें हैं और तिलक सब कुछ धीर-स्थिर भाव से सुने जा रहे हैं। पर उनके बीच क्या बातें हुईं, यह किसी को भी पता नहीं चल पाया।

एक दिन और अपराह्न में तिलक आये थे और सभी को मसालेदार चाय बनाकर पिलायी थी। जायफल, जायत्री, इलायची, लौंग और केसर आदि का गरम पानी में काढ़ा बनाने के बाद उसमें चाय, दूध और चीनी डालकर उन्होंने वह मसालेदार चाय बनायी थी। एक पूरा हण्डा भरकर वह चाय बनी थी। चाय इतनी जायकेदार बनी थी कि किसी-किसी ने तो दो-दो तीन-तीन

कप तक पीने की इच्छा की थी, पर तिलक ने मना करते हुए कहा था कि कोई भी एक कप से ज्यादा न पिये। हाँ, बाद में यदि कोई चाहें तो पी सकता है। उस चाय की तासीर इतनी उग्र थी कि धीरे-धीरे सभी के शरीर में गरमी आ गयी और किसी ने दुबारा वह चाय नहीं पी।

इन मुलाकातों के दौरान स्वामीजी और तिलक के बीच क्या बातें हुई थीं इसका पूरा पता तो नहीं चलता है, पर उस समय उपस्थित लोगों के संस्मरणों से इसका थोड़ा आभास जरूर मिलता है। विनायक विष्णु रानडे के अनुसार स्वामीजी ने मुख्य रूप से कहा था—"हमलोग पराधीन हैं। हमारी राजनीतिक कार्यावली को आत्म-निर्भर होना चाहिए। हमारी पद्धति विरोधात्मक होगी। वह ऐसी होगी, जिससे शासकगण घुटने टेककर हमारी बातें मानने को बाध्य होंगे।" कुमुदबन्धु सेन ने लिखा है कि स्वामीजी ने तिलक से चाफेकर बन्धुओं के बारे में बातें की थीं और कहा था कि जगह-जगह उनकी मूर्तियाँ स्थापित कर पूजा होनी चाहिए। यहाँ स्मरणीय है कि चाफेकर बन्धुओं ने तिलक की विचारधारा से प्रभावित होकर ही दो अँगरेज अधिकारियों की हत्या कर दी थी और परिणामस्वरूप उन्हें फाँसी पर झूलना पड़ा था। दामोदर चाफेकर की अन्तिम अभिलाषा के अनुसार तिलक ने उन्हें गीता भेजी थी और देहान्त के बाद उनके अन्तिम संस्कार की व्यवस्था की थी। लोकमान्य के सहयोगी वसुकाका जोशी का कहना है कि उन दोनों के बीच यह निश्चित हुआ था कि स्वामीजी धर्म के क्षेत्र में तथा तिलक राजनीति के माध्यम से राष्ट्रीय पुनर्गठन का कार्य करेंगे।

तिलक अपने संस्मरणों में लिखते हैं—"स्वामीजी से वहाँ मेरी अनेक विषयों पर चर्चा हुई। धर्म उनका प्रमुख विषय होने के बावजूद सभी मानवीय विषयों पर उनका अच्छा अधिकार था। उनके साथ किसी भी विषय पर बातचीत करना आनन्ददायक था। वार्तालाप के दौरान मेरे देखने में आया कि जनसाधारण की शिक्षा, एकता और जागरण के सम्बन्ध में उनका बहुत ही तीव्र आग्रह है।" वार्तालाप के दौरान स्वामीजी ने विनोदपूर्वक कहा था कि क्या ही अच्छा होता यदि तिलक संसार त्यागकर बंगाल में आकर शिक्षा और धर्म-प्रचार द्वारा लोगों को जागृत करते तथा वे स्वयं वही कार्य महाराष्ट्र में जाकर करते; क्योंकि कोई व्यक्ति अपने ही क्षेत्र में उतना प्रभावी नहीं हो पाता, जितना कि दूर के प्रान्तों में—'A prophet is not honoured in his own land.'

मुलाकात के पश्चात् तिलक के लौट जाने पर स्वामीजी ने अपने गुरुभाइयो से उनकी बहुत प्रशंसा की थी और कहा था कि आज एक ठीक-ठीक 'मनुष्य' मिला। स्वामी तुरीयानन्द ने अपने एक पत्र में स्वामीजी की इस प्रशंसा का उल्लेख किया है। स्वामीजी के पत्र एवं रचनाओं में छिट-पुट तिलक का नाम आया है। अपने 'परिव्राजक' ग्रन्थ में वे लिखते है—"पं० बाल गंगाधर तिलक ने यह प्रमाणित किया है कि हिन्दुओं के वेद ईसा से कम से कम पाँच हजार वर्ष पूर्व वर्तमान आकार में थे।" उन्होंने किसी-किसी को तिलक के 'ओरायन' ग्रन्थ को पढ़ने का सुझाव भी दिया था।

स्वामीजी के देहावसान के चार दिन बाद ८ जुलाई, १९०२ ई० के 'केसरी' में एक सम्पादकीय लेख के माध्यम से तिलक ने उन्हें अपनी भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित की थी। स्वामीजी के एक फोटोग्राफ के साथ प्रकाशित इस लेख में उन्होंने उनकी आदि शंकराचार्य से तुलना की थी और कहा था—"......हजारों वर्षों से भारतवर्ष में अध्यात्मशास्त्र की गंगा बह रही है। पश्चिम के विद्वानों के सम्मुख उसे प्रस्तुत करना और उसकी अपूर्वता को उनसे मनवाकर उनके मन में भारतवर्ष के प्रति सहानुभूति पैदा करना कोई मामूली बात नहीं है। पश्चिम की भौतिकता का प्रवाह भारत में अँगरेजी-विद्या के साथ-साथ इस तेजी के साथ बहता चला आया है कि उसे पीछे हटाने का काम कोई असाधारण बुद्धिशाली और धीर व्यक्ति ही कर सकता था।...... इसमें कोई शक

नहीं कि इस प्रवृति को हिन्दू-धर्म की असली बुनियाद पर रखने का काम विवेकानन्द ने ही सर्व-प्रथम किया।

"हिन्दू-धर्म के उज्ज्वल स्वरूप का दर्शन कराना और अपनी इस अनमोल सम्पत्ति का सारी दुनिया में प्रचार करना हमारा सही कर्तव्य है। यह कार्य केवल भाषण देकर ही नहीं, बल्कि अपने आचरण के द्वारा सारी दुनिया के सामने प्रस्तुत करने वाले सत्पुरुष हजार-बारह सौ वर्ष पहले एक शंकराचार्य हुए थे और दूसरे उन्नीसवीं सदी में स्वामी विवेकानन्द।"

सन् १९०५ ई० में तिलक को बम्बई में आयोजित श्रीरामकृष्ण-जन्मोत्सव-सभा की अध्यक्षता करने का आमंत्रण मिला। उत्तर में उन्होंने औरंगाबाद से लिखा था कि वे एक अति आवश्यक कार्य में व्यस्त होने के कारण उत्सव में भाग न ले पाएँगे और अन्त में यह भी लिखा था कि "गुरु और शिष्य * दोनों ही के प्रति मेरी असीम श्रद्धा है तथा आपके आन्दोलन के प्रति मेरी पूर्ण सहानुभूति है। मैं इसकी सफलता की हार्दिक कामना करता हूँ।" इसके परवर्ती महीने में बम्बई में ही एक व्याख्यानमाला का आयोजन किया गया था, जिसके लिए स्वामी रामकृष्णानन्द मद्रास से बम्बई आये हुए थे। उनमें से एक भाषण की अध्यक्षता करते हुए तिलक ने बम्बई की जनता से वहाँ पर रामकृष्ण मठ का एक केन्द्र स्थापित करने को अपील की थी और इस विषरण पर उन्होंने 'केसरी' में एक लेख भी लिखा था। इसी अवसर पर बम्बई में मठ-निर्माण के लिए एक कमेटी का गठन हुआ, जिसने तिलक को अपना अध्यक्ष चुना था। पर तिलक ने कहा कि वे एक राजनैतिक कार्यकर्ता हैं और कमेटी में उनका नाम होने पर संस्था के काम में बाधा पड़ सकती है। साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि (कमेटी के) सदस्य होने की अपेक्षा वे उसके बाहर रहकर उसकी ज्यादा सहायता कर सकेंगे।

फरवरी १९२० ई० में पूना में श्री रामकृष्ण-जन्मोत्सव आयोजित हुआ था। इस उत्सव-सभा के अध्यक्ष-पद से उन्होंने जो भाषण दिया, वह उनके जीवन के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण व्याख्यानों में एक माना जाता है। इस व्याख्यान में उन्होंने कहा था कि यह अत्यन्त दुःख की बात है कि भारत के लिए स्वामी विवेकानन्द और उनके गुरुदेव की खोज अमेरिकन लोगों ने की। इसका कारण यह है कि भारतवासी अपने वीरों को पहचानने की क्षमता खो चुके हैं। स्वामीजी के प्रति तिलक की संभवतः यही अन्तिम श्रद्धांजलि थी।

तिलक पर स्वामी विवेकानन्द के प्रभाव के बारे में निश्चयानन्द का मत है कि पहले तिलक केवल मराठा ब्राह्मणों के उत्थान के कार्य में संलग्न थे। स्वामीजी के संपर्क में आने पर वे समझ गये कि एक राष्ट्र को उन्नत करने के लिए उसके एक अंश मात्र की उन्नति से काम न होगा। गरीबों, दलितों और पिछड़े वर्ग के लोगों को उठाये बिना राष्ट्र का यथार्थ उत्थान न होगा। स्वामीजी से मुलाकात के बाद वे निम्नश्रेणी के लोगों की उन्नति के लिए भी प्रयास करने लगे थे। प्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वान रोमाँ रोलाँ के अनुसार तिलक द्वारा प्रवर्तित महान राजनीतिक आन्दोलन का बीज स्वामी विवेकानन्द के गुरु-गम्भीर राष्ट्रीय आह्वान में निहित है।

---

*श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द।

विवेकतीर्थ में कुमारी जोसेफिन मैक्लायड

—स्वामी अमलेशानन्द
रामकृष्ण इंस्टिट्युट ऑफ मोरल एंड स्पिरिचुअल
एडुकेशन, मैसूर।

मनुष्य की मग्नचेतना में प्रबल विस्फोरण कर उसे 'आत्मा की तीर्थ-यात्रा' के लिए व्रती करने में जिन्होंने चरम आध्यात्मिक आनन्द को तुच्छ समझा था वे क्या महामानव, अतिमानव या देवमानव थे? वे इनमें से कोई एक हो सकते हैं अथवा सभी अभिधाओं का सम्मिश्रण—एवं उसी सम्मिश्रण का एक नाम है--विवेकानन्द श्रीरामकृष्ण की आत्मा के उत्तराधिकारी विवेकानन्द ने गुरु से प्राप्त की थी चरमतम आध्यात्मिक सम्पदा। उसके साथ ही एक महादाय—संसार को आलोक दिखाने का दाय—विराट् वट वृक्ष की भूमिका ग्रहणकर महातीर्थ के अभिलाषी शत-शत अभियात्रियों के परिपोषण का दाय। विवेकानन्द ने ग्रहण किया था वह दायित्व। एक विवेकानन्द ने सैकड़ों सूर्य के आलोक से दीप्त होकर विश्व के सभी क्षेत्रों में शक्ति विकीर्ण की थी। तेजोदीप्त सूर्य की प्रखर दीप्ति महाकाश के मध्यगगन में विराजित होकर फैल गयी है दिग-दिगन्त तक। उसकी किरणधारा अभिस्नात करती है ज्योति-पिपासित शत-शत मनुष्यों को।

विवेकद्युति की प्रथम किरण ने जिस महादेश को स्पर्शधन्य किया था, वह देश था—अमेरिका। प्रखर विद्युच्छटा प्रतिबिम्बित होती है मसृण दर्पण में। बुद्धि से शाणित, नवयुग की वैज्ञानिक भावधारा में परिशीलित, उन्नीसवीं शताब्दी के अमेरिका के लोगों ने ही पहले नवयुग के नायक को स्वीकृति प्रदान की थी। तरुण सूर्य की सुखोष्ण किरण ने जिसे सबसे पहले अभिषिक्त किया था वह था "डायना (एक ग्रीक देवी) के ललाटस्थ तुषार कणिका की भाँति पवित्र' अमेरिका का नारी समाज। उन नारियों में जो सब स्वामीजी के महाजीवन की पथ-परिक्रमा करने के लिए व्रती हुई थीं वे सब यात्रा के अंत में आत्मा के आलोक से आलोकित होकर स्वयं ज्योतिःस्वरूप हो गयी थीं—इसमें कोई सन्देह नहीं प्रतीत होता है।

मिस जोसफिन मैक्लायड ने विवेकानन्द-महातीर्थ की यात्रा शुरू की थी १८९५ ई० के जनवरी महीने में, न्यूयार्क नगर से। तदुपरान्त सुदीर्घ ५५ वर्षों की पथ-परिक्रमा। विवेकानन्द के जीवन में अनुप्रविष्ट होकर मिस मैक्लॉयड अपने 'नये बुद्ध' के आविष्कार के आनंद से विस्मित हुई थीं, विह्वल हुई थीं, महाबोधि की प्रगाढ़ता से आच्छन्न हुई थीं। पूर्वी देश के जो देवदूत आलोक वार्ता लेकर उनके देश में उपनीत हुए थे, उन्हें मैक्लायड ने ग्रहण किया था उनसे साक्षात्कार के प्रथम प्रभात में ही। भोर के उदीयमान नये सूर्य के साथ हुए प्रथम परिचय को क्या भूला जा सकता है? जीवन का वही स्वर्गीय मुहूर्त स्मृति के आलोक से झलमला उठता है क्षण क्षण, मैक्लॉयड के भावी जीवन में। "१८९५ ई० की २९ जनवरी को मैंने अपनी बहन के साथ न्यूयॉर्क के ५४ वेस्ट ३३ नं० स्ट्रीट के भवन में जाकर स्वामी विवेकानन्द के स्वगृह में बैठकर उनका व्याख्यान सुना।" मैक्लॉयड याद करती हैं,—"उन्होंने जो पहली बात कही, वह अभी मुझे याद नहीं है, किन्तु उस समय वह मुझे अभ्रान्त रूप से सत्य प्रतीत हुई थी। उन्होंने जो दूसरा वाक्य कहा, वह भी सत्य था, और इसी प्रकार सत्य था तीसरा वाक्य भी। इसके बाद से मैं लगातार सात वर्षों तक उनकी बातें सुनती रही हूँ एवं जो कुछ उन्होंने कहा था वे सब मेरे लिए निर्भ्रान्त रूप से सच थे। उस दिन से जो कुछ उन्होंने कहा,

वह सब मेरे लिए सच था। उस दिन से मेरे जीवन का अर्थ ही बदल गया।" (युगनायक विवेकानन्द खंड 2, पृ० १८२-८३)

प्रथम साक्षात्कार के उस अविस्मरणीय दिव्य मुहूर्त के सम्बन्ध में बहुत दिनों के बाद बेलुड़ मठ में बैठकर उन्होंने और भी अधिक जीवन्त रूप से वर्णन किया था--"यद्यपि तथ्य में किंचित् हेर-फेर हो गया है। "मैंने स्वामीजी को पहले पहल न्यूयॉर्क में देखा था। उस समय अपनी बड़ी बहन श्रीमती स्टार्जेस के साथ श्री लेगेट का प्रणय-निवेदन चल रहा था। दीदी को उस समय एक बेटी (अलबर्टा) और एक बेटा हेलिस्टर थे। उन दिनों मैं मोहिनी मोहन चटर्जी की अँग्रेजी में लिखित गीता पढ़ती थी। एक दिन हम दोनों बहनें हडसन नदी होकर न्यूयॉर्क आयीं। स्वामी विवेकानन्द का व्याख्यान सुनने गयीं। वक्तृता का विषय था—गीता।एक सौ से अधिक लोग बैठे थे। स्वामीजी व्याख्यान दे रहे हैं, हठात् आँखें ऊपर उठाकर मैंने देखा—वही मेरा प्रथम अत्यन्त आश्चर्यकारी दर्शन था—(अपनी आँखों की ओर दिखाती हुई) इन्हीं आँखों से देखा, स्वयं श्रीकृष्ण गीता कह रहे हैं। मैं आच्छन्न अभिभूत। उस मूर्ति की ओर देखती हुई गीता की कथा सुनती जाती हूँ—क्या कहते हैं इस ओर कुछ ध्यान नहीं—केवल देखती ही रहती हूँ। व्याख्यान समाप्त होने के बाद श्रीलेगेट ने, जो बाद में मेरे बहनोई होंगे, कुर्सियों को लांघते हुए स्वामीजी के हाथों को अपने हाथों में लेकर कहा, 'स्वामीजी, आप हमलोगों के साथ कब भोजन करेंगे ?" (उद्बोधन, १३९१, श्रावण, पृ० ४१७)

यह अनुमान करने में असुविधा नहीं होगी कि मैक्लायड को यह अति आश्चर्यकारी दर्शन पहले ही दिन नहीं हुआ, बल्कि और भी कई दिनों बाद हुआ था, क्योंकि उन्होंने स्वयं ही उल्लेख किया है कि श्री लेगेट के साथ स्वामीजी की भेंट उन दोनों बहनों के साथ हुई भेंट के कई दिनों बाद हुई।

न्यूयॉर्क में वेदान्त प्रचार के उद्देश्य से स्वामी विवेकानन्द ने उस नगर के एक छोर पर एक छोटा सा मकान भाड़े पर लिया था। वहाँ उन्होंने लैंड्सबर्ग नामक एक उत्साही वेदान्त-अनुरागी युवक को अपने सहयोगी के रूप में पाया था। नितान्त आडम्बर रहित परिवेश में प्रायः भारतवर्ष के संन्यासी सुलभ दिनचर्या के बीच यहाँ स्वामीजी ने अपनी वेदान्त शिक्षा की कक्षा लेनी शुरू की थी, २८ जनवरी १८९५ ई० से। यहाँ की सरल और स्वाधीन जीवन-यात्रा में स्वामीजी ने अत्यन्त स्वच्छन्दता का अनुभव किया था और फलस्वरूप उनकी कक्षाएँ अत्यन्त चित्ताकर्षक हो गयी थीं। कुमारी एलेन वाल्डो अपने संस्मरण में लिखती हैं—"क्या चमत्कार था उस पहले दिन की कक्षाओं में ! वे कक्षाएँ मन को कितने गंभीरभावों से आकृष्ट करती थीं ! जिन लोगों को इन कक्षाओं में उपस्थित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, उनमें से कोई भी उन्हें क्या कभी भूल सकेगा ?......स्वामीजी थे अत्यन्त श्रद्धेय और सरल, उनमें था एक गांभीर्यपूर्ण आग्रह, अपूर्व वाग्मिता और उनके घनिष्ठ सम्पर्क में संघबद्ध छात्र-छात्राएँ अपनी समस्त असुविधाओं को भूलकर रुद्धसाँसों से उनकी प्रत्येक बात को सुनते रहते थे।''' (युगनायकविवेकानन्द : खंड-२ पृ० १८०, बंगला ग्रंथ)

कुमारी जोसेफिन मैक्लायड एवं उनकी सद्यः विधवा बहन बिट्टी स्टॉर्जेस (जो बाद में श्री लेगेट के साथ विवाह-बन्धन में आबद्ध होकर बिट्टी लेगेट के नाम से परिचित हुईं) इन उत्सुक श्रोताओं में सम्मिलित थीं। न्यूयॉर्क से प्रायः तीस मील दूर डबसन में मैक्लायड उन दिनों अपनी बहन बिट्टी स्टार्जेस के घर में रह रही थीं। हठात् एक दिन उनलोगों ने अपनी मित्र श्रीमती डोरा रॉथलिसबर्ग की एक चिट्ठी पायी—'भारत से आये हुए एक अपूर्व व्यक्ति को देखने एवं उनकी वार्ता सुनने वे हाल ही में न्यूयॉर्क आयीं हैं। मैक्लायड के मन में कुछ समय पहले ही आध्यात्मिकता के प्रति आग्रह उत्पन्न हुआ था और मात्र कुछ ही समय पहले अपने पति की अकाल मृत्यु के फलस्वरूप बिट्टी स्टार्जेस के

भीतर भी धर्मभाव की प्रेरणा और वैराग्य का उन्मेष हुआ था। ऐसा उन्मेष कि मैक्लायड ने कहा है कि उन दिनों उन्होंने गीता के अनेक श्लोकों को कण्ठस्थ कर लिया था। अतएव, पूर्वी धर्म के प्रति उनमें एक प्रकार का आकर्षण उत्पन्न हो गया था। कहने की जरूरत नहीं है कि श्रीमती बर्ग की चिट्ठी पाते मात्र ही उस 'अपूर्व व्यक्ति' को देखने की उत्सुकता दोनों बहनों में उत्पन्न हो गयी थी। चिट्ठी पढ़कर वे दोनों न्यूयॉर्क आयीं तथा यथानिर्दिष्ट स्थान पर स्वामीजी की वेदान्त की कक्षा में उपस्थित हो गयीं। स्वामी विवेकानन्द से जोस्फिन मैक्लायड का वही प्रथम साक्षात्कार था। स्वामीजी की आकर्षक चुम्बकीय शक्ति में उस दिन ही वे दोनों बहनें बँध गयी थीं। मंत्रमुग्ध की भाँति वे दोनों प्राच्य ऋषि के मुख से एक अद्भुत अलौकिक दिव्य वाणी सुना करती थीं। किन्तु वे दोनों स्वामीजी की मुग्ध श्रोता मात्र थीं। उन अपूर्व विद्युत शक्ति से युक्त प्रचण्ड व्यक्तित्व के साथ घनिष्ठ होने की वे कल्पना भी नहीं करती थीं। किन्तु स्वामीजी ने ही एक दिन स्वतः प्रवृत्त होकर उन दोनों से बातचीत की। मैक्लायड लिखती हैं, "मैंने किसी दिन उनके साथ बातचीत नहीं की; किन्तु हमलोग नियमित रूप से जाती थीं, इसलिए स्वामीजी के इस रहनेवाले घर के सामने दो आसन हमलोगों के लिए निर्धारित रहते थे। एक दिन उन्होंने हमलोगों की ओर मुड़कर कहा, 'तुमलोग क्या दोनों बहनें हो?' हमने कहा—"हाँ।" इसके बाद उन्होंने कहा— 'तुमलोग क्या बहुत दूर से आती हो?" हमलोगों ने कहा—"बहुत दूर से नहीं, यही तीस मील से।" "इतनी दूर से? यह तो बड़े आश्चर्य की बात है।" यही प्रथम मौखिक बातचीत थी। किन्तु जो भविष्य में विवेकानन्द के जीवन एवं रामकृष्ण भावान्दोलन में एक विशिष्ट भूमिका ग्रहण करेंगी उनके साथ केवल मौखिक बातचीत में ही सम्बन्ध सीमाबद्ध नहीं रह सका। अतएव, ईश्वर निर्दिष्ट भाव से ही एक दिन निकटता हुई। मैक्लायड की अपनी स्मृति-कथा में ही लौटा जाय: "हमलोग उनसे कभी बातचीत नहीं करतीं एवं बातचीत करने योग्य विशेष कुछ था भी नहीं। किन्तु उसी वसन्तकाल में एक दिन जब मैं अपने भावी बहनोई श्री फ्रांसिस लेगेट के साथ रात्रि-भोजन के लिए बैठती हूँ, मैंने उनसे कहा, "मैं आपके साथ खाती हूँ किन्तु शाम को मैं आपका साथ नहीं दे पाती हूँ। 'अच्छी बात है'— उन्होंने कहा- 'मेरे साथ भोजन करना ही यथेष्ट है।' भोजन समाप्त होने पर उन्होंने कहा, 'क्या मैं भी नहीं जा सकता?' मैंने कहा,—"हाँ, अवश्य।" वे गये और उन्होंने व्याख्यान सुना। बाद में व्याख्यान समाप्त होने पर उन्होंने स्वामीजी के निकट उपस्थित होकर उनका हाथ मलते हुए जिज्ञासा की, 'आप कब मेरे साथ भोजन करेंगे?' इन फ्रांसिस लेगेट ने ही स्वामीजी के साथ हमलोगों की सामाजिक रूप से बातचीत करा दी थी। [स्वामी विवेकानन्द इन अमेरिका —न्यू डिस्कवरीज, वॉल्युम ३, पेज ७७]

तदुपरान्त लेगेट परिवार के साथ स्वामीजी का सम्पर्क क्रमशः घनिष्ठ होता रहा। १८९५ ई० के १३ अप्रैल को श्री लेगेट के आमंत्रण पर स्वामीजी उनके रिजलीमैनर नामक घर में कुछ दिनों के विश्राम के लिए गये। मैक्लॉयड, उनकी बहन स्टार्जेस एवं स्टार्जेस के पहले विवाह से उत्पन्न पुत्र हेलिस्टर और पुत्री अलबर्टा भी स्वामीजी की संगति-लाभ के लिए उत्सुक होकर वहाँ गये थे। दीर्घ परिश्रम एवं न्यूयॉर्क नगर के कोलाहल-पूर्ण जनजीवन से छुटकारा पाकर स्वामीजी का रिजली मैनर में विश्राम करने का काल काफी आनन्ददायक हो गया था। मैक्लॉयड आदि ने उन दिनों स्वामीजी को एकान्त रूप से अपना बना लिया था। वे सब एक अलौकिक व्यक्तित्व के नव-नव रूप के आविष्कार की उत्तेजना से आनन्दित हुए थे, सिहर उठे थे एवं उनके प्रति उतरोत्तर गंभीरतम श्रद्धा और प्रेम से आत्मनिवेदित हुए थे। एक अवाक् विस्मय से उन सब ने देखा था एक दिव्य पुरुष को, जो इस क्षण देहातीत स्तर पर पहुँचकर आत्मा के आलोक से उद्भासित हुए हैं और दूसरे ही क्षण वही उस महागंभीर अतीन्द्रिय लोक से लौटकर बाल सुलभ कौतुक से ठहाका लगाकर हँस पड़ते हैं।

रिजली मैनर में इस प्रकार घटी सैकड़ों घटनाएँ मैक्-लॉयड के मन में गंभीर रूप से अंकित हो गयीं। एक दिन घटी एक आनन्दपूर्ण घटना को मैक्लॉयड ने लिपि-बद्ध किया है। 'पुरुषों के ड्राइंगरूम (बैठकखाने) में कोई नहीं है, ऐसा समझ कर मैं उसमें घुस पड़ती हूँ। भीतर आकर देखती हूँ कि निश्चय ही मेरे देखने में भूल हुई है—फ्रांसिस लेगेट को धरती पर गिड़ा दिया गया है, और स्वामीजी का मस्तक नीचे तथा पैर ऊपर की ओर है। घटना क्या घटी उसे सुनें। स्वामीजी अपने हाथों पर भार देकर खड़े हैं एवं फ्रांसिस को एक कुर्सी ले आने तथा अपने पैर के ऊपर उन्हें खड़ा होने को कहा। ठीक इसी समय दरवाजा बिना खटखटाए मैं घर में घुस जाती हूँ। (महिला उपस्थित है, इधर इस प्रकार खेल दिखाने के लिए पोशाक विध्वस्त है, पैंट जाँघ तक सरक आया है, निश्चय ही यह लज्जाजनक है।) ज्यों ही मैं घर में घुसती हूँ, उसी क्षण स्वामीजी ने झटका देकर फ्रांसिस को गिरा दिया और मैंने देखा कि बेचारा चित्त होकर मिट्टी पर लेट गया—लगता था उसका सिर फट गया है। स्वामीजी ने देह झाड़ते हुए उठ खड़े होकर गंभीर स्वर में कहा, 'यह पुरुषों के बैठने का घर है। तुमने दरवाजा क्यों नहीं खटखटाया ?' इसके बाद थोड़ा रुककर, 'जो, आओ तो फ्रांसिस को उठाकर देखें कि उसे क्या हुआ।" [उद्बोधन, १३९१, पृ० ४८१]

(क्रमशः)

पत्रों में व्यक्त स्वामी विवेकानन्द के भावोद्गार

—व्यंकटेश वा० कडूसकर
पुणे (महाराष्ट्र)

पृष्ठ भूमि

मनुष्य की आंतरिक भावनाओं की अभिव्यक्ति उपन्यास, कहानी, आत्मचरित्र, जीवनी, व्याख्यान, प्रवचन आदि माध्यमों से लगातार होती आयी है। लेकिन, पत्र-लेखन का माध्यम अपनी एक खासियत रखता है। यह एक पूर्णतया अलग और निराली आन्त-रिक मनोभावना व्यक्त करने का माध्यम है। इसमें राग-लोभ, प्रीति-अप्रीति और मार्गदर्शन करने वाले दिखावटी रूप के बदले वह अपने असली रूप में प्रकट होता है। इस लिए जिसको पत्र लिखा जाता है, उसके हृदय में पत्र-लेखक घर कर लेता है।

स्वामी विवेकानन्दजी ने अपने समकालीन, गुरु-बंधुओं, शिष्यों, सहकारियों और हितचिंतकों को बहुत सारे पत्र लिखे थे। उनमें स्वामीजी की सत्यानुभूति और प्रत्ययानुभूति की अभिव्यक्ति के कारण उनका अनोखा व्यक्तित्व प्रकट हुआ है। स्वामीजी के पत्रों में प्रकट हुए चैतन्य और ओज आदि का उल्लेख करने का इस लेख में लघु प्रयत्न किया गया है।

शरीर की लापरवाही आत्मघात है

श्री बलराम बोस श्रीरामकृष्णदेव के गृहस्थ भक्त थे। उनके प्रति श्रीरामकृष्ण की आन्तरिक प्रेम की भावना थी। उनके समाधिस्थ होने के बाद श्रीरामकृष्ण के सर्वसंग परित्यागी शिष्यों को श्री बलराम बोसजी ने आर्थिक सहायता दी थी। इतना ही नहीं, उन्होंने कठिन परिस्थिति से मुकाबला करने के लिए उनका सुयोग्य मार्गदर्शन भी किया। इसलिए स्वामी विवेका-नन्द और उनके गुरु भाइयों की श्री बोसजी के प्रति अपार श्रद्धा थी। स्वामीजी तो स्पष्टवक्ता थे। जो बात

उन्हें नहीं जँचती, उसकी आलोचना वे कड़े शब्दों में किया करते थे। वयोवृद्ध हो जाने से श्री बलराम बोस की तबीयत अच्छी नहीं रहा करती थी। सेहत के लिए उन्हें वायु परिवतन की आवश्यकता थी। लेकिन शरीर के बारे में लापरवाही बरतने और फिजूल खर्ची करने के खिलाफ होने से वे बाहर जाने के कार्यक्रमों को टालते रहते थे। जब यह बात स्वामीजी को मालूम हुई, तब उन्होंने श्री बोसजी को एक पत्र में लिखा कि यदि जलवायु का परिवर्तन वास्तव में वांछनीय है और आप किसी सस्ती जगह की खोज के लिए ही अभी तक आगा-पीछा कर रहे हैं तो यह खेद का विषय है। श्री बलराम बोस मन-ही-मन मानते थे कि सब बातें उनकी इच्छानुसार हो जाए। इसके बारे में स्वामीजी उन्हें स्पष्ट रूप से लिखते हैं कि अगर आपको बाहर जाना ही अभीष्ट है तो शुभस्यशीघ्रम्। परन्तु क्षमा किजिए, अपने स्वभाव के अनुसार आप प्रत्येक वस्तु को अपने मतोनुकूल ही, आदर्श रूप में देखना चाहते हैं। किन्तु संसार में ऐसा संयोग क्वचित् ही प्राप्त होता है। 'आत्मानं सततं रक्षेत्—प्रत्येक परिस्थिति में अपनी रक्षा करते रहना चाहिए।

इस बात को स्पष्ट करते हुए स्वामीजी उन्हें आगे चलकर लिखते हैं—'भगवत्-कृपा से सब कुछ होता है, फिर भी प्रभु अपने पैरों खड़े होने वाले को सहायता देते हैं। यदि मितव्ययिता ही आपका उद्देश्य है तो क्या आपके जलवायु परिवर्तन के लिए ईश्वर अपने बाप दादों की कमाई से निकालकर आपको धन देगा ? यदि आपको परमात्मा का इतना भरोसा है तो फिर बीमार पड़ने पर डाक्टर क्यों बुलाते हैं ?...फिर भी मैं कहूँगा कि यदि जलवायु—परिवर्तन नितान्त अभीष्ट है तो कृपया मितव्ययिता के कारण आगा-पीछा न कीजिए। ऐसा करना आत्मघात होगा और आत्मघाती की रक्षा ईश्वर भी नहीं कर सकता।"

पत्र का संक्षेप स्वामीजी इन्हीं शब्दों में करते हैं-"जब तक अहं बुद्धि है, प्रयत्न में कोई त्रुटि होना आलस्य, दोष एवं अपराध कहा जायगा। जिसमें अहंबुद्धि नहीं है उसके लिए सर्वोत्तम उपाय तितिक्षा ही है। जीवात्मा की वासभूमि इस शरीर से ही कर्म की साधना होती है—जो इसे नरककुंड बना देते हैं वे अपराधी हैं और जो इस शरीर की रक्षा में प्रयत्नशील नहीं होते वे भी दोषी हैं।" हृदयस्थ परमेश्वर का निवास स्थान, जो शरीर है, वह तो जिस तरह सिर्फ भोगभूमि नहीं है, उसी तरह वही शरीर नगण्य या तुच्छ भी नहीं है। वह उपेक्षित कतई नहीं है। स्वामी विवेकानन्दजी की यह पते की बातें सिर्फ श्री बलराम बोस के लिए ही नहीं थीं, बल्कि हम हम जैसे सामान्य जनों के लिए भी ये बातें मार्गदर्शक सिद्ध होंगी।

श्रीरामकृष्णदेवकी अमृतवाणी

'श्रीरामकृष्ण कथामृत' नाम के मूल बंगला ग्रंथ के लेखक श्री महेंद्रनाथ गुप्त या मास्टर महाशय थे। वे अपना असली नाम लोगों के सामने नहीं रखना चाहते थे। इसलिए श्री 'म' नाम से कथामृत का उन्होंने लेखन किया। अपने अंतरंग शिष्यों और गृहस्थ भक्तों के साथ श्रीरामकृष्णदेव ने जो वार्तालाप किये और जो उपदेश दिये उन्हीं को श्री 'म' ने टिप्पणी करके रखा था और बाद में मनन-चिंतन कर श्रीठाकुर के शब्दों का ही सही-सही संकलन किया। श्री 'म' को श्रीरामकृष्ण का प्रथम दर्शन दि० २६ फरवरी १८८२ को हुआ। तभी से वे अप्रैल १८८६ तक ठाकुर के संपर्क में रहे। उनका प्रभाव श्री 'म' पर इतना गहरा पड़ा कि उसका हृदय रूप फल 'श्रीरामकृष्ण कथामृत' बनकर लोगों के सामने आया। उन्होंने अगर यह महत्त्वपूर्ण कार्य न किया होता, तो भगवान श्रीरामकृष्णदेवकी अमृतवाणी से सामान्य लोग वंचित रहते। एक अनमोल धन-संपदा उन्हीं के साथ काल का भक्ष्य हो जाती। लेकिन नियति ने श्री 'म' से यह काम करा लिया और श्रीठाकुर की अमृतवाणी को अक्षररूप देकर चिरंतन बना लिया।

स्वामी विवेकानन्दजी ने श्री 'म' को दो खत लिखे थे। एक पत्र में स्वामीजी उन्हें लिखते हैं—"मास्टर

महाशय, मेरे आपको लक्ष-लक्ष धन्यवाद ! श्रीरामकृष्णदेव को आपने सही-पूर्ण-रूप से पहचाना है। बहुत ही थोड़े, लोगों ने उन्हें असल रूप से जाना है। भगवान की अमृतवाणी भविष्य में पृथ्वी पर शांति की वर्षा करने में सफल सिद्ध होगी, उन्हीं में आप डुबकियाँ ले रहे हैं, यह सब मैं अपनी आँखों से खुद देखता हूँ तो मेरा हृदय अत्यानंद से नाचने-कूदने लगता है। आश्चर्य है कि ऐसे समय मैं पागल क्यों नहीं हो जाता हूँ।"

श्री 'म' को लिखा हुआ स्वामीजी का दूसरा पत्र और भी सुंदर और सुहावना है। वे लिखते हैं—"आपके द्वारा भेजी हुई दूसरी पुस्तिका सचमुच ही अपूर्व है। आपका कार्य तो अभूतपूर्व और अनमोल है। किसी महान आचार्य का जीवन चरित्र लेखक के मनोभावों की छाप पड़े बिना जनता के सामने कभी नहीं आया, पर आप वैसा करके दिखा रहे हैं। आपकी प्रसन्न भाषा, सरस और पैनी होते हुए भी सीधी-सादी और सुगम हो गयी है। इसका वर्णन जितना किया जाय, उतना कम ही प्रतीत होता है।

"आपकी पुस्तिका पढ़कर मुझे कितना आनंद हुआ है, उसका वर्णन में उपयुक्त शब्दों में करने में असमर्थ हूँ। जब-जब मैं इस पुस्तिका का पारायण करता हूँ, तब तब मैं अपना देहभान खो बैठता हूँ। क्या यह अचरज की बात नहीं है? हमारे गुरु और प्रभु सर्वथा अपूर्व और मौलिक थे तथा हममें से प्रत्येक को या तो मौलिक होना होगा अथवा कुछ नहीं। आज तक श्रीरामकृष्ण देव का असली चरित्र किसी ने क्यों नहीं लिखा, यह बात अब मुझे पूर्णरूप से मालूम पड़ी।

यह महत् कार्य आपके लिए आरक्षित कर दिया गया है। श्रीरामकृष्णदेव का कृपा-आशीर्वाद आप पर हमेशा है। "सुकराती-संवाद में सर्वत्र प्लेटो ही प्लेटो की छाप है। किन्तु आप स्वयं अपनी पुस्तिका में अदृश्य ही हैं। इसके अतिरिक्त इसका नाटकीय पहलू परम सुन्दर है। यहाँ और पश्चिम, दोनों जगहों में लोग इसे बहुत पसन्द करते हैं।" "स्वामी विवेकानन्द के स्वभाव की विशेषता यही थी कि अगर किसी से काम में कुछ गलती हुई हो तो चाहे वह उनका प्यारा गुरु बंधु ही क्यों न हो, उसे बुरी तरह से डाँटते थे, फटकारते थे। लेकिन किसी ने अच्छा काम किया तो स्वामीजी उसकी पीठपर प्यार से हाथ फेरना कभी नहीं भूलते थे।

विपत्ति में अंतश्चक्षु का सहभाग

श्री डी० आर० बालाजीराव को पुत्रशोक हुआ था। उन्हें स्वामीजी अच्छी तरह से जानते थे। स्वामीजी को जब यह दुःखद घटना ज्ञात हुई, तब स्वामीजी ने उनको सान्त्वना परक एक पत्र लिखा। डॉ० नंजुदाराव को लिखे हुए पत्र में स्वामीजी लिखते हैं—'बेचारे बालाजीराव! उनके पुत्र के निधन की बात सुनकर मुझे बहुत दुःख हुआ। भगवान ने दिया और भगवान ही ले गए। भगवान का नाम धन्य है! हम सिर्फ इतना ही जानते हैं कि इस जगत की कोई भी चीज नष्ट नहीं होती और नष्ट नहीं की जाती। इसलिए प्रभु हमको कुछ भी क्यों न दें हमें इसको शांत-वृत्ति से स्वीकार करना चाहिए। प्रभु, बालाजीराव को दुःख से विमुक्त करें, और पुत्रशोक की विपत्ति उन्हें करुणामयी जगज्जननी के चरणों पर निकट स्थित होने में मदद करें।"

श्री हरिदास बिहारी दास देसाई को (दीवानसाहेब नाम से परिचित) स्वामीजी एक पत्र में लिखते हैं— "इहलोक और परलोक में एकमात्र आस्पद, एक ही शाश्वत वस्तु,जो है वह सिर्फ परमात्मा ही है। अगर हम उसके निकट जाने की कोशिश करें तो महसूस होता है कि वही सर्वत्र, सर्वकालातीत और सभी भूतों में विराजमान है। सब कुछ उसी में स्थित है और उसी में अन्त में विलीन हो जाता है। इसका अनुभव सभी को करना चाहिए। साधक को उस तरफ आगे बढ़ने की हमेशा कोशिश करनी चाहिए।"

सेवा और प्रचार की आवश्यकता

श्री आलासिंगा पेरुमल स्वामीजी के एक मद्रासी शिष्य थे। सेवा करने के समय साधकों को कौन सी बात

टालनी चाहिए इसका मार्गदर्शन उन्हें स्वामीजी एक पत्र में करते हैं। सामान्य जनों की प्राय: यही प्रवत्ति दिखाई देती है कि वे किसी काम को शुरू करने के समय से ही वहस और वाद-विवाद करने की चेष्टा करते हैं। इस उपलक्ष में स्वामीजी ने उन्हें पत्र में एक रोचक छोटी कहानी लिखी। स्वामीजी पत्र में लिखते हैं—"एक निकम्मा भिखमंगा सड़क पर चलते-चलते एक वृद्ध को अपने मकान के द्वार पर बैठा देखकर रुककर उससे पूछने लगा—"अमुक ग्राम कितनी दूर है?" बुड्ढ़ा चुप रहा। भिगमंगे ने कई बार प्रश्न किया; परन्तु उत्तर न मिला। अन्त में जब वह उकताकर वापस जाने लगा, तब बुड्ढ़े ने खड़े होकर कहा, 'वह ग्राम यहाँ से एक मील है।' भिखमंगा कहने लगा—

'तुम पहले क्यों नहीं बोले, जब मैंने तुमसे कितनी बार पूछा था?'

बुड्ढ़े ने उत्तर दिया, 'क्योंकि पहले तुमने जाने के लिए लापरवाही दिखायी थी और दुविधा में मालूम होते थे; परन्तु अब तुम उत्साह पूर्वक आगे वढ़ रहे हो इसलिए अब तुम उत्तर पाने के अधिकारी हो गये हो।'

कहानी लिखकर स्वामीजी श्री पेरुमल को पूछते हैं—"हे वत्स, क्या तुम यह कहानी याद रखोगे? काम आरम्भ करो, शेष सब कुछ आप ही आप हो जायेगा। "अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जना: पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेम वहाम्यम्"—गीता। "जो सब कुछ छोड़कर मेरे ही ऊपर भरोसा करता है, मेरा ही चिन्तन करता है उसकी आवश्यकताओं को मैं पूरा करता हूँ।" यह भगवान की वाणी है, न कि स्वप्न या कवि कल्पना।...

......"मेरी इच्छा है कि ये (कलकत्ता और मद्रास के) दोनों केन्द्र आपस में मिल-जुल कर काम करें। अभी शुरू-शुरू में पूजा-पाठ, प्रचार इत्यादि के रूप में कार्य आरम्भ कर देना चाहिए। सभी के मिलने के लिए एक स्थान चुन लो, एवं प्रति सप्ताह वहाँ इकट्ठे होकर पूजा करो, साथ ही भाष्य सहित उपनिषद् पढ़ो; इस तरह धीरे-धीरे काम और अध्ययन दोनों करते जाओ। तत्परता से काम में लगे रहने पर सब ठीक हो जायेगा।"

" ...अब काम करो!...काम में लीन हो जाओ—अभी तो काम का आरम्भ ही हुआ है। प्रत्येक राष्ट्र को अपनी रक्षा स्वयं करनी होगी; हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान के लिए अमेरिका की पूँजी पर भरोसा न करो, क्योंकि यह भ्रम ही है।...(वहाँ) केन्द्र बना सकना वहुत ही उत्तम बात होगी। मद्रास जैसे बड़े शहर में इसके लिए स्थान प्राप्त करने का यत्न करो। और संजीवनी शक्ति का चारों ओर प्रसार करो। धीरे-धीरे आरम्भ करो। पहले गृहस्थ प्रचारकों से श्रीगणेश करो, धीरे-धीरे वे लोग भी आने लगेंगे जो इस काम के लिए अपना जीवन समर्पण कर देंगे। शासन करने वाले न बनो—वही सबसे अच्छा शासन करता है जो सब की सेवा कर सकता है। मृत्यु पर्यन्त सत्यपथ से विचलित न होओ। हम काम चाहते हैं—हमें धन, नाम और यश की चाह नहीं।......

स्वयं के कार्य की स्वाधीनता रखते हुए कलकत्ते के भ्राताओं पर सम्पूर्ण श्रद्धाभक्ति रखना—क्योंकि वे संन्यासी जो हैं।

मेरी सन्तान को आवश्यकता होने पर एवं अपने कार्य की सिद्धि के लिए आग में कूदने को भी तैयार रहना चाहिए। इस समय केवल काम, काम, काम—वाद में किसी समय काम स्थगित कर किसने कितना किया है यह देखेंगे। धैर्य, अध्यवसाय और पवित्रता चाहिए...।"

स्वामी अद्भुतानन्द (लाटू महाराज) की जीवन-कथा

—चन्द्रशेखर चट्टोपाध्याय
अनुवादक—स्वामी विदेहात्मानन्द
रामकृष्ण मठ, नागपुर

८. सेवा

[वास्तविक सेवा की गुह्य बातें, प्रणिपात के बिना सेवा-धर्म में दीक्षित नहीं हुआ जाता, भक्त गिरीशचन्द्र घोष का प्रसंग, धनी भक्त का कुल्हाड़ी-नमस्कार प्रसंग, एक भक्त को कठोर बातें कहने पर सेवक लाटू के प्रति ठाकुर का आदेश, भक्त सुरेन्द्रनाथ मित्र के घर तथा भक्त मनोमोहन मित्र के घर उत्सव का प्रसंग।]

हम पहले ही कह आये हैं कि भारतीय शिक्षापद्धति में प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा का भाव विद्यमान है। प्रणिपात के बिना हमारी शिक्षा पूरी नहीं होती तथापि प्रणिपात का क्या तात्पर्य है यह भी हम स्पष्ट रूप से नहीं जानते। लाटू महाराज के बलराम मन्दिर निवासकाल में मैंने उनसे प्रणिपात के अर्थ के विषय में जो कुछ सुना है तथा ठाकुर ने उन्हें प्रणिपात-धर्म में दीक्षित करते समय उन्हे जो उपदेश दिया था, वही लिख रहा हूँ।

एक दिन एक धनी भक्त ने दोनों हाथ उठाकर लाटू महाराज को नमस्कार किया। इस पर उन्होंने उन भक्त को कहा—"देखिये! साधु-संन्यासी और देवता को दण्डवत होकर प्रणाम करना चाहिए। वे (परमहंसदेव) कहते थे, 'ऐसे कुल्हाड़ी नमस्कार से फल नहीं होता'।"

यह सुनकर एक दूसरे भक्त ने लाटू महाराज से पूछा—"महाराज! यह कुल्हाड़ी-नमस्कार क्या चीज है?"

लाटू महाराज—"अरे! नहीं जानते? वही जो तुमलोग दोनों हाथ उठाकर मस्तक से लगाते हो, उसको कुल्हाड़ी-नमस्कार कहा करते थे। एक दिन गिरीशबाबू ने ठाकुर को इसी प्रकार से नमस्कार किया। इसके साथ ही उन्होंने हमारे सामने ही कमर नवाकर गिरीशबाबू को नमस्कार किया। गिरीशबाबू ने पुनः ठाकुर को नमस्कार किया। उन्होंने और भी झुककर गिरीशबाबू को नमस्कार किया। इसी प्रकार नमस्कार करते-करते जब गिरीश बाबू जमीन पर सोकर दण्डवत् हो गये, तब ठाकुर ने उन्हें आशीर्वाद दिया। इसीलिए तो बाद में गिरीशबाबू कहा करते थे, 'इस बार वे नमस्कार के द्वारा जगत् जय करने आये थे। कृष्ण अवतार में अस्त्र था बाँसुरी, चैतन्य अवतार में था नाम, और इस बार है नमस्कार-अस्त्र।'

धनी भक्त—महाराज! हमलोग तो इतना सब नहीं जानते। सब लोगों को इसी प्रकार नमस्कार करते देखकर हमने भी ऐसा ही सीखा है। हमारी गलती माफ कर दीजिये।

लाटू महाराज—अरे! यह कौन कहता है कि तुमने गलती की है? पर हाँ, वे क्या कहते थे जानते हो?—अपने समान होने पर नमस्कार करना, परन्तु जहाँ कोई तुमसे विद्या, बुद्धि, साधना में या नाम-यश और धन में बड़ा होगा, उसके सामने सिर नवाकर प्रणाम करना चाहिए। जिसे प्रणाम किया जाता है उसकी सभी बातों

पर ध्यान देना चाहिए और पालन करना चाहिए। उनके समक्ष अपना अभिमान और अहंकार छोड़ देना चाहिए।' वे तो हमसे सर्वदा ही कहा करते थे, 'अरे! मन-मुख एक करके प्रणाम करना। दिखावे के प्रणाम से कोई फल नहीं होता।'

एक दूसरे दिन की घटना से आप समझ सकेंगे कि ठाकुर ने किस प्रकार अपने सेवक को दक्षिणेश्वर में प्रणिपात-धर्म में दीक्षित किया था। निम्नलिखित बातें काशी में हुई थीं—

"देखो! वे तो हमें सर्वदा सुनाया करते थे, 'अरे! दण्डवत् होना सीखो—सब मान-अभिमान दूर चला जायगा।' एक दिन एक भक्त ने दक्षिणेश्वर आकर बड़ी असभ्यता शुरू कर दी; मेरे से रहा नहीं गया और मैंने उसे खूब खरी-खोटी सुना दी। मेरी बातें सुनकर वे बड़े दुःखी हुए। उन्होंने (ठाकुर ने) भक्त की व्यथा समझ ली। फिर (भक्त के चले जाने पर) मुझसे बोले, 'यहाँ जो लोग आते हैं, उन्हें ऐसी कठोर बातें नहीं कहनी चाहिए। एक तो वे ऐसे ही संसार की ज्वाला में भुन रहे हैं, फिर यहाँ आने पर भी यदि तुमलोग उनकी गलतियों पर इतनी कठोर बातें कहकर उन्हें दुःख दोगे, तो बताओ वे लोग और कहाँ जाएँगे? साधु-संग में रहने पर कठोर बातें नहीं कहनी चाहिए; ऐसी बातें न कहना जिससे कि लोगों के मन में दुःख हो।' उसके बाद जानते हो उन्होंने मुझे क्या आदेश दिया? बोले—'कल वहाँ जाना और ऐसी बातें कह आना जिससे उसके मन का खेद मिट जाय।' अगले दिन मैं गया तो, लेकिन मेरे मन में बड़ा अभिमान जागा। मैं उन्हें बहुत सी बातें कहकर लौट आया। वापस आ जाने पर जानते हो उन्होंने क्या कहा?—'क्यों रे! यहाँ का (मेरा) भी प्रणाम कह आया है न?', मैं तो अवाक् रह गया! वे पुनः बोले, 'जा-जा शीघ्र जाकर यहाँ का भी प्रणाम कह आ।' मैं फिर उनके पास गया और प्रणाम की बात कहने पर वे रो पड़े। उनकी रुलाई देखकर मेरे मन में बड़ा खेद हुआ। मेरे लौट आने पर उन्होंने कहा, 'अब तेरी गलती मिट गयी'।"

इन दो घटनाओं से ऐसा प्रतीत होता है कि सेवक लाटू के मन से अहंकार दूर करने के लिए ही ठाकुर ने उन्हें ऐसी शिक्षा दी थी। प्रणिपात से अहंकार नाश होता है तथा निरहंकार होने की प्रेरणा मिलती है। सेवक लाटू को अहंकार रहित करने के लिए ठाकुर ने और भी किस प्रकार की शिक्षा दी यह हम (अपने अनुमान से) कहने जा रहे हैं। पाठकगण इन दृष्टान्तों की अन्य प्रकार से व्याख्या भी कर सकते हैं।

हमने सुना है कि दक्षिणेश्वर में निवास करने की अनुमति पाने के बाद सेवक लाटू को साथ लेकर ठाकुर भक्त सुरेन्द्रनाथ मित्र (जिन्हें वे सुरेश मित्तिर कहते थे) के घर गये। ठाकुर के आगमन के उपलक्ष्य में भक्त सुरेश मित्तिर ने छोटा-सा उत्सव किया था। उसी उत्सव में लाटू को एक नवीन शिक्षा मिली। भक्त सुरेश मित्तिर ने ठाकुर के लिए अच्छे फूलों की एक मोटी माला मँगा रखी थी। वह माला अर्पित किये जाने पर ठाकुर ने उसे गले से उतार कर अलग रख दिया। इस पर सुरेशबाबू अत्यन्त दुःखी होकर अपने आपको धिक्कारने लगे। भक्त की ऐसी मनोव्यथा देखकर ठाकुर ने 'भक्त-माल' ग्रन्थ से एक प्रसंग उठाकर समझा दिया कि यदि कुछ भी दान करना हो तो उसे कौन-सी मनोवृत्ति के साथ करना चाहिए और संकेत से यह भी बता दिया कि देवतागण निरभिमानी का ही दान स्वीकार करते हैं। तब सुरेशबाबू को अपनी भूल समझ में आयी और वे लज्जित हुए। भक्त को निराश देखकर श्रीरामकृष्ण ने कीर्तन करना आरम्भ किया और सभी कीर्तन करने वालों को उच्चभाव में ले जाकर अर्धबाह्य दशा में सुरेशबाबू द्वारा प्रदत्त माला को उठाकर गले में पहन लिया तथा सबको सुनाते हुए कीर्तन में योग देते हुए कहने लगे—"मैंने चन्द्रहार पहना है, अश्रुजल से सिक्त चन्द्रहार पहना है। प्रेमरस में डुबाया हुआ चन्द्रहार पहना है।" इत्यादि।

परवर्ती काल में लाटू महाराज ने हमारे समक्ष इस

घटना का वर्णन किया था तथा इस पर अपने भी ज्ञान का थोड़ा-सा आलोक डाला था—"सुरेस मित्तिर ठाकुर के रसद्दारों में एक थे, तो भी ठाकुर ने उनका दान स्वीकार नहीं किया। परन्तु जब वे रोकर शुद्ध हो गये तब उन्होंने वह माला उठाकर पहन ली।"

उपर्युक्त घटना १८८१ ई० के जून में हुई थी और निम्नलिखित घटना उसी वर्ष दिसम्बर में मनोमोहन मित्र के घर उत्सव के समय घटी। परवर्ती काल में लाटू महाराज ने जो कुछ इस प्रसंग में कहा था उसमें उनके दक्षिणेश्वर निवासकाल के सेवक तथा साधक अवस्था की ही झलक है। इसीलिए हम यहाँ पर उसे लिपिबद्ध करते हैं—

"जानते हो…! मैं तो कितनी ही बार मनोमोहनबाबू के घर गया हूँ' परन्तु जिस बार उनके (ठाकुर) साथ गया, उस बार सब नया ही देखने को मिला! उनके (मनोमोहनबाबू के) यहाँ बहुत से भक्त आये हुए थे, खूब कीर्तन हुआ। काफी धूम मची थी। उनमें से बहुतों को देखकर विचित्र सा लगा। उनके मन में भाव था—देखो, हम कैसा गाते हैं, कैसा बजाते हैं, कैसा नाचते हैं! जानते हो…! सब झूठा माल दीख पड़ा। वे (ठाकुर) काफी समय तक बैठे रहे। फिर अन्त में कीर्तन समाप्त हो जाने पर जानते हो क्या बोले?—'अजी, नाम लेने के पूर्व नाम को प्रणाम करना'।"

यह सुनकर एक भक्त ने लाटू महाराज से प्रश्न किया—"महाराज! ठाकुर की इस वाणी का ठीक भाव हमारी समझ में नहीं आया। नाम को प्रणाम करने की बात न तो हमने कभी सुनी है, न जानते हैं।"

लाटू महाराज—तुमलोगों ने नहीं सुनी तो क्या ऐसी बात हो ही नहीं सकती? वे कहते थे नाम को प्रणाम करके तभी जप में बैठना चाहिए। नाम की शरण लेनी चाहिए। नाम और नामी एक हैं। नाम के समक्ष प्रार्थना करने पर ही वह नामी के पास पहुँचती है।

अब वे अपनी बातें कहने लगे—"अरे! नाम हो तो शक्ति और नामी देवता है। शक्ति की साधना किये बिना देवता को नहीं पाया जा सकता।"

एक भक्त के साथ लाटू महाराज की वार्तालाप को यहीं विराम देते हैं। सोच कर देखिए कि दक्षिणेश्वर में सेवक लाटू को निरहंकारी तथा अभिमानरहित करने के लिए अपनायी गयी ठाकुर की दृष्टान्तों से परिपूर्ण अलौकिक पद्धति कितनी सार्थक एवं सहजबोध हो उठी थी।

□

समाचार एवं सूचनाएँ

रामकृष्ण मिशन आश्रम, पटना में समारोह

पटेना, २४ दिसम्बर । गत २१ दिसम्बर को रामकृष्ण मिशण आश्रम, पटना में रामकृष्ण संघ शताब्दी एवं श्री माँ सारदा की जन्म-जयन्ती के उपलक्ष में एक त्रिदिवसीय समारोह का आयोजन किया गया। २१ दिसम्बर को "भारतीय पुनर्जागरण और श्रीरामकृष्ण" विषय पर इलाहाबाद विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग की प्राध्यापिका डॉ० राज्यलक्ष्मी वर्मा तथा मगध विश्वविद्यालय, गया के प्रो० डॉ०वीरेश्वर गाँगुली ने बड़े सारगभित व्याख्यान दिये। डॉ० विमलेश्वर ड े ने धन्यवाद ज्ञापन किया।

२२ दिसम्बर के समारोह के अध्यक्ष थे सर्वोच्च न्यायालय के पूर्व न्यायधीश श्री नन्दलाल उटवालिया। मुख्य अतिथि थे विश्वविख्यात रामकृष्ण मिशन इंस्टिच्यूट ऑफ कल्चर, कलकत्ता के सचिव स्वामी लोकेश्वरानन्द। विषय था—रामकृष्ण आन्दोलन और इसका प्रभाव। विषय का उपस्थापन करती हुई डॉ० राज्यलक्ष्मी वर्मा ने कहा कि रामकृष्ण ने कोई आंदोलन नहीं चलाया। उनके शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने गुरु, वेदान्त और राष्ट्र प्रेम की धुरी पर रामकृष्ण मिशन का धर्म चक्र प्रवर्तन किया। स्वामी लोकेश्वरानन्द ने कहा कि रामकृष्ण मिशन यद्यपि सभी मिशनों में नयी, गरीब और सबसे कम करीब बारह-तेरह सौ साधुओं वाली मिशन है तथापि श्रीरामकृष्ण आज सारे विश्व में छाये हुए हैं। कारण है कि रामकृष्ण ने कोई सम्प्रदाय नहीं बनाया। उन्होंने मात्र सत्य को, ईश्वरानुभूति को सबके समक्ष रखा। उन्होंने लोगों से कहा कि तुम पापी नहीं हो, तुम दिव्य हो, तुम्हीं ब्रह्म हो। विश्वप्रेम, मानवीय संवेदना और शुद्ध धर्म की त्रिवेणी ही रामकृष्ण आंदोलन की आधारभूमि है जो सम्पूर्ण विश्व के विकल नर-नारियों को अपनी ओर खींच रही है।

श्री उटवालिया ने वर्तमान मूल्यहीनता पर चिन्ता प्रकट करते हुए रामकृष्ण मिशन से अपेक्षा की कि वह लोगों में नयी चेतना का संचार कर सकेगी।

डॉ० केदारनाथ लाभ ने धन्यवाद ज्ञापन किया।

२३ दिसम्बर को माँ सारदा का जन्मोत्सव आयोजित हुआ। मंगल-आरती, भजन-कीर्तन और प्रसाद वितरण के उपरान्त संध्याकालीन सभा की अध्यक्षता की डॉ० केदारनाथ लाभ ने। डॉ० राज्यलक्ष्मी वर्मा ने श्रीमाँ सारदा देवी के लौकिक, अलौकिक, मातृ और गुरुरूप पर प्रांजल भाषा में भाव प्रवण व्याख्यान दिया। डॉ० विमलेश्वर डे ने बंगला में भाषण करते हुए माँ के प्रगतिशील विचारों पर प्रकाश डाला। डॉ० केदारनाथ लाभ ने अपने अध्यक्षीय भाषण में माँ के अवतरण के प्रयोजन पर विस्तार से चर्चा करते हुए आधुनिक भारतीय नारियों के लिए माँ सारदा को उच्चतम आदर्श बताया।

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर

रायपुर। स्थानीय रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम के तत्वाधान में ३ जनवरी १९८७ से लेकर १५ फरवरी १९८७ तक स्वामी विवेकानन्दजी का १२५ वाँ जयन्ती समारोह तथा श्रीरामकृष्णदेव की सार्ध शताब्दी एवं रामकृष्ण संघ की शताब्दी का समापन समारोह आश्रम के प्रांगन में मनाया जायगा। समारोह का उद्घाटन २४ जनवरी को होगा जिसके मुख्य अतिथि होगें स्वामी सत्यमित्रानन्द गिरिजी महाराज। विषय होगा—रामकृष्ण विवेकानन्द भावधारा और विश्व पर उसका प्रभाव

इस अवसर पर कई प्रतियोगिताओं का भी आयोजन किया गया है २५ जनवरी से २७ जनवरी तक स्वामी आत्मानन्दजी की अध्तक्षता में स्वामी सत्यमित्रानन्दजी के प्रवचन होंगे तथा १ से ३ फरवरी, ८७ तक रामकृष्ण मठ और मिशन के विद्वान संन्यासियों के प्रवचन होंगे।

Infinite patience, infinite purity, and infinite perseverance are te secret of success in a good cause.

—Swami Vivekananda

विवेक वाणी
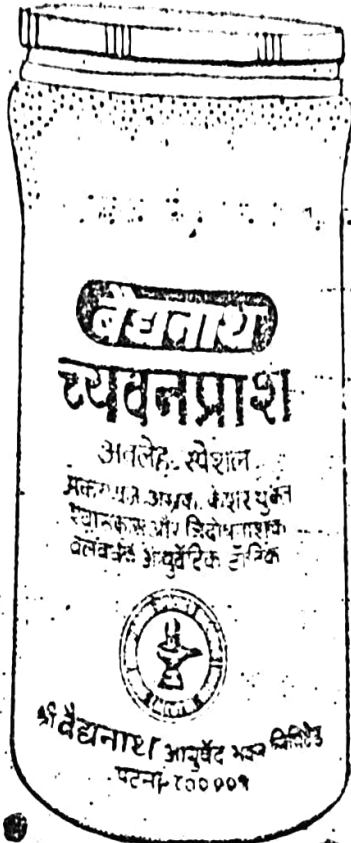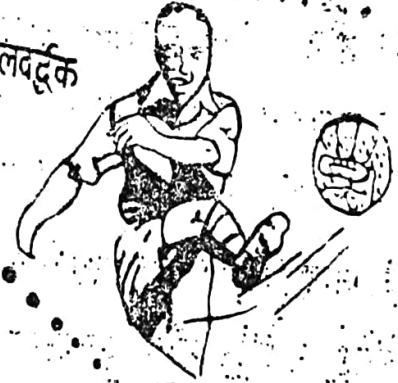
लोक-शक्ति को गठित करो

हम जानते हैं कि यहाँ बुराइयाँ हैं। पर बुराई तो हर कोई दिखा सकता है। मानव समाज का सच्चा हितैषी तो वह है, जो इन कठिनाइयों से बाहर निकलने का उपाय बताये। यह तो इस प्रकार है कि कोई एक दार्शनिक एक डूबते हुए लड़के को गम्भीर भाव से उपदेश दे रहा था तो लड़के ने कहा—"पहले मुझे पानी से बाहर निकालिए, फिर उपदेश दीजिए।" बस ठीक इसी तरह भारतवासी भी कहते हैं, "हमलोगों ने बहुत व्याख्यान सुन लिए, बहुत सी समस्याएँ देख लीं, बहुत से पत्र पढ़ लिए, अब तो ऐसा मनुष्य चाहिए, जो अपने हाथ का सहारा दे, हमें इन दुःखों के बाहर निकाल दे। कहाँ है वह मनुष्य जो हम से वास्तविक प्रेम करता है, जो हमारे प्रति सच्ची सहानुभूति रखता है?' बस उसी आदमी की हमें जरूरत है। यहीं पर मेरा इन समाज सुधारक आन्दोलनों से सर्वथा मतभेद है।.......

भारतवर्ष में हमारा शासन सदैव राजाओं द्वारा हुआ है, राजाओं ने ही हमारे स कानून बनाये हैं। अब वे राजा नहीं हैं, और इस विषय में अग्रसर होने के लिए हमें मा दिखलाने वाला अब कोई नहीं रहा। सरकार साहस नहीं करती। वह तो जनमत की गा देखकर ही अपनी कार्य-प्रणाली निश्चित करती है। अपनी समस्याओं को हल कर लेनेवाला ए कल्याणकारी और प्रबल लोकमत स्थापित करने में समय लगता है।...अतएव समाज सुध की सम्पूर्ण समस्या यह रूप लेती है: कहाँ हैं वे लोग, जो सुधार चाहते हैं। पहले उन्हें त र करो। सुधार चाहने वाले लोग हैं कहाँ? कुछ थोड़े से लोग किसी बात को उचित समझ और बस उसे अन्य सब पर जबरदस्ती लादना चाहते हैं। इन अल्प संख्य व्यक्तियों के अत्याचा के समान दुनिया में और कोई अत्याचार नहीं।... राष्ट्र में आज प्रगति क्यों नहीं है? क्यों जड़भावापन्न है? पहले राष्ट्र को शिक्षित करो, अपनी निजी विधायक संस्थाएँ बनाओ; फिर कानून आप ही आ जायेंगे। जिस शक्ति के बल से, जिसके अनुमोदन से कानून का गठन हो पहले उसकी सृष्टि करो। आज राजा नहीं रहे; जिस नयी शक्ति से, जिस नये दल की सम्मति नयी व्यवस्था गठित होगी, वह लोक-शक्ति कहाँ है? पहले उसी लोक-शक्ति को गठित करो। अ समाज सुधार के लिए भी प्रथम कर्तव्य है लोगों को शिक्षित करना। और जब तक यह सम्पन्न नहीं होता, तब तक प्रतीक्षा करनी ही पड़ेगी।"

—स्वामी विवेक

श्रीमती गंगा देवी, जयप्रकाश नगर, छपरा (बिहार) द्वारा प्रकाशित एवं श्रीकान्त झा द्वारा जनता प्रेस, ... टोला, पटना—४ में मुद्रित।